श्री गणेश स्मृति ग्रन्थमाला-ग्रन्थांक-२

2258

हरिश्चन्द्र-तारा

(एक पौराणिक कथानक)

व्याख्याता

श्री मज्जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलाल जी म० सा०

संपादक

शंकरप्रसाद दीक्षित

श्री गणेश स्मृति ग्रंथमाला, बीकानेर

(श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित)

प्रकाशक :

मंत्री, श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
रांगड़ी मोहल्ला, बीकानेर (राजस्थान)

●

पंचम संस्करण : संवत् २०२५

●

●

मूल्य: दो रुपये

●

मुद्रक:

जैन आर्ट प्रेस
(श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित)
रांगड़ी मोहल्ला, बीकानेर

प्राक्कथन

सत्यवादी महाराज हरिश्चन्द्र और उनकी अनुगामिनी महारानी तारा का कथानक नित-नूतन है और जब तक सत्य, न्याय-नीति, सदाचार आदि नैतिक गुण और तदनुसार जीवन-यापन करने वाले मनुष्य रहेंगे तब तक यह कथानक चिरंजीवी रहेगा।

संसार में दो तरह के मनुष्य होते हैं। एक तो वे, जिनका नाम सुनकर हृदय काँप उठता है, रोमांच हो आता है और लोग उनसे घृणा करते हैं। इसके विपरीत दूसरे वे हैं जो पर-दुःखकातर, सम-दृष्टि, सदाचारी एवं धार्मिक आचार-विचारवान और अपने वचन पर दृढ़ रहने वाले होते हैं। ऐसे मनुष्य जीवितावस्था में सबको प्रसन्न रखते हैं और मरने पर—उनकी मृत्यु को हजारों वर्ष बीत जाने पर—भी लोग उनको आदर-संमान के साथ स्मरण करते हैं। उनके चरित्र को पढ़ते-सुनते और आदर्श पुरुष मानकर अपना जीवन भी उनके अनुकूल बनाने की प्रेरणा लेते हैं।

महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी तारा ऐसे ही महापुरुषों में से एक हैं। यद्यपि समय की अपेक्षा उनके और हमारे बीच काफी बड़ा अंतर आ गया है। लेकिन वे अपने आदर्शमय जीवन से आज भी हमारे बीच विद्यमान हैं।

इस कथानक के प्रत्येक पात्र का अपना-अपना व्यक्तित्व है और मानवीय भावों को साकार रूप में हमारे समक्ष उपस्थित कर देता है। महाराज हरिश्चन्द्र की सत्यवादिता, महारानी तारा की कर्तव्य-परायणता और कुमार रोहित की निर्भीकता आबाल-वृद्ध सभी को चिन्तन और मनन का अवसर देती है एवं उनका कथानक

साहित्य की अमर विभूति बन गया है।

लेकिन हमारे देश का यह दुर्भाग्य भी है कि हम अपने आदर्शों की अवहेलना कर, पाश्चात्य अन्धानुकरण कर भारतीय-संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट करने के प्रयत्न कर रहे हैं। नए-नए वादों के प्रयोग कर साहित्य के मूलाधार से दूर होते जा रहे हैं। यदि यही परंपरा चालू रही तो यह निश्चित है कि भारतीय साहित्य का नाम-शेष हो जाएगा। अतः साहित्यकारों का यह दायित्व है कि वे अपने विचारों को साहित्य पर बलात् लादने का प्रयत्न न करें।

प्रस्तुत पुस्तक श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलाल जी म० सा० के व्याख्यानों के आधार पर संपादित की गई है। जहाँ तक हो सका है आचार्य श्री जी के साधुभाषा में होने वाले व्याख्यानों के भावों को सुरक्षित रखा है। फिर भी प्रमादवश भाव या भाषा सम्बन्धी कोई भूल रह गई हो तो उसके उत्तरदायी संग्राहक व संपादक हैं और ज्ञात होने पर आगामी संस्करण में सुधार हो जाएगा।

पुस्तक में अनेक त्रुटियां हो सकती हैं, लेकिन आशा है कि विज्ञ पाठक इन्हें सुधार लेंगे और भविष्य में पुनरावृत्ति न होने देने के लिए संकेत कर अनुगृहीत करेंगे। अल्पज्ञ सदैव क्षमा के पात्र रहे हैं अतः विद्वानों से यही आकांक्षा है कि वे अपने सुझावों से अवगत करायें, जिससे महापुरुषों के चरित्र का आदर्श गलत रूप में प्रस्तुत न हो सके।

—संपादक

प्रकाशकीय

पौराणिक कथा-साहित्य के आदर्शों में विश्वास करके यदि हम तदनुसार जीवन-व्यवहार करें तो हमें ऐसा प्रकाश और आकर्षण दिखलाई देगा जो सत्यं-शिवं-सुन्दरं के रूप में सबको प्रिय और कल्याणकारी है। इन कथाओं में जीवन की शिक्षा देने वाली बहुत सी बातें हैं। जिनका प्रभाव संस्कृति और नीति दोनों दृष्टि से सर्वोत्तम रहता है। जो साहित्य जीवन को उच्च और आदर्शमय बनाने की प्रेरणा देता है वह शाश्वत और नित-नूतन माना जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक 'हरिश्चन्द्र-तारा' का कथानक साहित्य की इसी भावना का द्योतक है और श्री जैन हितेच्छु श्रावक मंडल रतलाम द्वारा तीन संस्करण और श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ द्वारा चतुर्थ संस्करण प्रकाशित हो जाने पर भी पाठकों में इसके पढ़ने की आकांक्षा आज भी दिखलाई देती है। अतएव 'श्री गणेश स्मृति ग्रंथमाला' के उद्देश्यानुसार हम इसे पंचम संस्करण के रूप में पुनः पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं।

पुस्तक के कथानक, आदर्श और शिक्षा से सभी परिचित हैं। फिर भी पाठकों ने इसे पढ़कर आत्मोन्नति की ओर लक्ष्य देने का प्रयास किया तो हम अपने प्रयत्नों को सार्थक समझेंगे और इसी में पुस्तक की उपयोगिता एवं लोकप्रियता गर्भित हैं। इत्यलम्।

निवेदक—

जुगराज सेठिया मंत्री
सुन्दरलाल तातेड़ सहमंत्री
पीरदान पारख ,,
उगमराज मूथा ,,
मोतीलाल मालू

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

अनुक्रमणिका

श्री गणेश स्मृति ग्रंथमाला के सहायक

श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा, कलकत्ता	५०००.००
(स्व. आचार्य श्री गणेशलाल जी म. सा. के जीवन-चरित्र हेतु)	
श्रीमती सूरजबाई धाड़ीवाल	६०२ ००
श्रीमती बादलकंवरबाई बाफणा	
धर्मपत्नी श्री सम्पतराज जी बाफणा, मंदसौर	५०१.००
श्रीमती मदनकंवरबाई बाफणा	
धर्मपत्नी श्री केवलचंद जी बाफणा, हरदा	५०१.००
श्रीमती भूरीबाई जी सुराणा, रायपुर	५००.००
श्रीमती उमरावबाई जी मूथा, मद्रास	५००.००
श्रीमती सायरकंवरबाई मूथा, मद्रास	२०१.००
" मदनबाई बाफणा	२०१.००
श्री केशरीचंद जी सांड, देशनोक	१०१.००

१. मोही पति : विचारशील पत्नी

अवध के हरे-भरे प्रदेश में सरयू नदी किनारे बसी अयोध्या नगरी थी। एक तो वैसे ही नदी किनारे बसे प्रदेश में नैसर्गिक सौन्दर्य होता है और फिर उसमें भी जन-धन से समृद्ध अयोध्या नगरी की छटा तो निराली थी। इस पवित्र नगरी को ही तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव, अजितनाथ, अभिनन्दन, अनन्तनाथ आदि जिनेश्वरों और मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचंद्र जैसे महापुरुषों को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

सरयू के किनारे अयोध्या नगरी उपवन की तरह शोभित होती थी और इसके निवासी अपने सौन्दर्य एवं नम्र स्वभाव से प्रफुल्लित पुष्प-से प्रतीत होते थे। उसी उपवन में एक ऐसा भी पुष्प था जो स्वयं अपने गुणों से सुगन्धित था और दूसरों को भी सुगन्धित कर रहा था। सारा संसार उस पुष्प को मानता था और प्रशंसा करता था। नाम था उसका राजा हरिश्चन्द्र। जहाँ राजा हरिश्चन्द्र अवध निवासियों में प्रजा-पालन आदि कारणों से उत्कृष्ट माने जाते थे वहीं उनमें दया, करुणा आदि गुण भी विशेष थे।

हरिश्चन्द्र को प्रजा प्यारी थी और प्रजा को हरिश्चन्द्र

प्राणों के समान प्रिय थे। सदा एक-दूसरे के कल्याण की चिंता करते थे और परस्पर में एक दूसरे को दुखित करने का कभी विचार भी उत्पन्न नहीं होता था।

कहा जाता है कि राजा हरिश्चन्द्र श्री रामचंद्र जी से २७ पीढ़ी पूर्व उसी कुल में उत्पन्न हुए थे जो अपनी सत्यवादिता और कर्तव्य-पालन के लिए प्रसिद्ध रहा है। यद्यपि राजा हरिश्चंद्र उच्च कुल में उत्पन्न हुए थे, बुद्धिमान थे और प्रजा की रक्षा में तन-मन-धन से तत्पर रहते थे, तो भी संसार में ऐसे मनुष्य बिरले ही मिलेंगे जो युवावस्था को प्राप्त कर उन्मत्त न बन गए हों। युवावस्था के साथ-साथ यदि कहीं धन-वैभव का योग भी प्राप्त हो तो कहना ही क्या? और उसमें भी राजसत्ता का योग तो करेला और नीम पर चढ़ा जैसी बात है। इसके बारे में तो इतना कहना ही पर्याप्त है कि—

यौवनं धन संपत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय, किमुयत्र चतुष्टयम्॥

यौवन, धन-सम्पत्ति, प्रभुता और अज्ञानता इनमें से प्रत्येक अनर्थकारी हैं। लेकिन जहाँ चारों एकत्र हों, वहाँ की तो बात ही न पूछिये।

युवावस्था में मत्त मनुष्य प्रायः काम-भोगों में विशेष रत रहता है। कर्तव्याकर्तव्य का उसे बहुत कम ध्यान रहता है। उसका ध्यान तो सदैव स्त्रियों के सौन्दर्य, उनके हाव-भाव आदि पर ही रहता है और विशेषकर उसका समय इन्हीं कार्यों में व्यतीत होता है। पुरुष को ऐसी अवस्था में यदि

स्त्री भी वैसी ही प्राप्त हो जाए जो युवावस्थावश कामभोग की चेरी बन गई हो तो पुरुष के साथ वह स्वयं भी विलास के गहरे गड्ढे में जा गिरती है और अपना तथा पति का नाश कर लेती है। किन्तु कहीं सावधान और विवेकशील हुई तो पति को विलास में डूबने से बचा लेती है और आप स्वयं भी बच जाती है।

तो इस युवावस्था रूपी पिशाचिनी ने राजा हरिश्चन्द्र को भी धर दबाया था, विलासप्रिय बना दिया था। परन्तु परस्त्री की ओर उनका ध्यान आकर्षित करने असमर्थ रही। हाँ अपनी नवोढ़ा परम सुन्दरी रानी तारा के मोहपाश में अवश्य ही ऐसे बंध गये थे कि उन्हें बिना तारा के सारा संसार सूना-सूना दिखलाई देता था। तारा उनकी आंख का तारा बन गई थी और बिना तारा के एक घड़ी कटना भी मुश्किल समझते थे। केवल स्त्री-सुख को ही सुख मान बैठे थे। उठते-बैठते, खाते-पीते उन्हें तारा-ही-तारा की धुन लगी रहती थी। राज्य में क्या होता है, कर्मचारी प्रजा के साथ कैसा व्यवहार करते हैं और प्रजा सुखी है या दुःखी आदि बातों की उन्हें कुछ भी परवाह नहीं रही थी।

जब राजा स्वयं प्रजा की ओर से उदासीन होकर विलास-मग्न हो जाता है तब प्रजा और देश की क्या दशा होती है, इसके इतिहास में अनेक उदाहरण मिलते हैं। यहाँ पर, भारत सम्राट पृथ्वीराज चौहान और महाराणा उदयसिंह का नाम ले लेना ही पर्याप्त है। हरिश्चन्द्र के विलासी बन

जाने और राज-काज न देखने से भी यही दशा होने लगी। प्रजा का धन शोषण करके कर्मचारी अपना घर भरने लगे, और उसके सुख दुःख की चिन्ता करने वाला कोई नहीं रहा।

महाराज हरिश्चन्द्र जैसे-जैसे विलास-मग्न होते जा रहे थे, वैसे-ही-वैसे उनकी कान्ति, सुन्दरता, वीरता, धीरता, बुद्धि-बल आदि का भी नाश होता जा रहा था। किसी कवि ने कहा है—

कुरंग मातंग पतंग भृंग मीनाः हताः पंचभिरेव पंच।
एकः प्रमादी सकथं न हन्यते यः सेवते पंचभिरेव पंच ॥

मृग श्रवण के विषय-सुख से, हाथी स्पर्शनेद्रिय के विषय-सुख से, पतंग नेत्र के विषय-सुख से, भ्रमर नाक के विषय-सुख से और मछली जीभ के सुख से नाश को प्राप्त होती है तो जो मानव इन पांचों ही इन्द्रियों के विषयों का एक साथ सेवन करता है, वह बेचारा क्यों न बेमौत मरेगा।

महाराज हरिश्चन्द्र पांचों इंद्रियों के वश हो एक प्रकार से अधःपतन के गहरे गड्ढें की ओर जा रहे थे। उनको कुछ भी ध्यान नहीं था कि मैं किस ओर जा रहा हूँ। वे तो यही सोचते थे कि संसार में ऐसा और इससे बढ़कर दूसरा सुख है ही नहीं। वे तो पतन में ही आनन्द समझ रहे थे।

यद्यपि राजा हरिश्चन्द्र तो विलासप्रिय बन चुके थे, लेकिन पति की अनुगामिनी होने पर भी तारा चतुर और विवेकशील थीं। पति की दशा को देख तथा दासियों के मुख से प्रजा के दुःख, कर्मचारियों के अन्याय और राज-काज न

देखने के कारण प्रजा द्वारा पति की निन्दा सुन रानी ने विचार किया कि जिस प्रजा के पीछे पति-राजा और मैं रानी कहलाती हूं, जिसके धन का हम उपभोग करते हैं, उस प्रजा के दु:ख दूर कर रक्षा करना पति का और उनके साथ ही मेरा कर्तव्य है। लेकिन यह न कर अपने मजामौज में पड़े रहना तो हमारे लिये नरक में ले जाने की बात है। पति मेरे ही कारण से बाहर नहीं निकलते हैं. मेरे ही सौन्दर्य पर वे मुग्ध हो रहे हैं, अतः मुझे और मेरे रूप, यौवन को धिक्कार है जो पति को इस प्रकार चक्कर में डालकर कर्तव्य भ्रष्ट कर रहा है तथा इस लोक में कलंकित और परलोक में दण्डनीय बना रहा है। मेरे ही कारण आज सूर्यवंश की अखंड कीर्ति में कलंक लग रहा है। जिन पति की आकृति देखते ही बनती थी, जिनका चेहरा गुलाब के फूल की तरह सदा खिला रहता था, जिनका शरीर हृष्ट-पुष्ट और सुडोल था, उनकी आज क्या दशा है ? इस समय वे केवल शृंगार से ही सुन्दर दीखते हैं, वास्तविक सुन्दरता तो उन्हें छोड़ गई है और इसका कारण मैं ही हूं। मेरा ख्याल ही पति के चन्द्र समान सुखदायक सौन्दर्य को कलंकित कर रहा है। लेकिन क्या प्रेम ऐसी निकृष्ट वस्तु है ? क्या प्रेम पतन की ओर ले जाता है ? क्या प्रेम सौन्दर्य का इस प्रकार घातक है ? क्या प्रेमी मनुष्य कर्तव्य-पथ पर स्थिर नहीं रहता ? नहीं नहीं, ऐसा नहीं है। यदि प्रेम ऐसा होता तो संसार में कोई उसका नाम ही न लेता। प्रेम ! प्रेम ! तो वह व

है जो उन्नति की ओर अग्रसर करता है, तेज, ओज और उत्साह और ज्ञान की वृद्धि करता है, उदारता और गंभीरता को बढ़ाता है एवं अपने कर्तव्य-पथ से कभी विचलित नहीं होने देता है।

इन्हीं विचारों के बीच रानी गंभीर चिन्ता-सागर में निमग्न हो गई। वह सोचने लगीं कि जब प्रेम बुरा नहीं है तो पति की ऐसी दशा होने का कारण क्या है? क्या स्त्री-प्रेम बुरा है? क्या स्त्रियों का प्रेम इतना निकृष्ट है? क्या स्त्रियों का जीवन इतना अधम है कि उनसे प्रेम करने वाला मनुष्य पतित हो जाता है? क्या स्त्रियों का प्रेम पुरुष के यश रूपी चंद्रमा के लिये राहु-सदृश हैं? लेकिन ऐसा होता तो संसार में कोई स्त्री का नाम भी न लेता। स्त्रियों को सदा विष के समान त्याज्य समझा जाता। तो फिर मेरे पति के गौरव और सौन्दर्य पर कलंक लगने का कारण क्या है?

विचारते-विचारते रानी को प्रतीत हुआ कि इस कलंक का कारण प्रेम नहीं मोह है। जिस प्रेम के लिए पति-पत्नी का सम्बन्ध स्थापित है, वह तो तेज, उत्साह आदि का नाशक नहीं अपितु वर्धक है। जो तेज, उत्साह आदि का नाश करे, अज्ञानता, अकर्मण्यता आदि की वृद्धि करे, जिसके होने पर मनुष्य किसी एक वस्तु-विशेष के सिवाय संसार के दूसरे सत्कार्यों से दूर हो जाए, जो मनुष्य की मनुष्यता को लोप कर दे, उसका नाम तो मोह है। लेकिन अब तक मैं इस बात को नहीं समझ सकी और मेरी यह भूल ही पति के

यश-चन्द्र में कलंक लगाने वाली सिद्ध हुई है। अतः मेरा यह कर्तव्य हो जाता है कि मैं पति के मोह को दूर कर उन्हें सन्मार्ग पर स्थिर करूं और उनके, अपने एवं गौरवशाली कुल के कलंक को धो डालूं।

पत्नी पति की सेविका की तरह शिक्षिका भी हो सकती है। अच्छे कार्यों में पति की सेवा करना और बुरे कार्यों से बचाना पत्नी का कर्तव्य है। इसी कारण पत्नी पति की धर्म-सहायक मानी गई है। कर्तव्य पर स्थिर रहना ही धर्म है और उसमें सहायता देना पत्नी का प्रथम कर्तव्य है। पति को अकर्तव्य से हटाकर कर्तव्यपथ पर स्थिर करने का दायित्व पत्नी पर है। इसी प्रकार पुरुष भी पत्नी को सुमार्ग पर लाने का जिम्मेदार है।

अपने प्रति पति के संमोहन और प्रजा के सुख-दुःख आदि की ओर से बेखबर होने की बात से रानी सिहर उठीं एवं प्रजा की दशा जानने के लिए विकल हो गईं। उन्होंने गुप्त रीति से प्रजा के सुख-दुःख और राजा के बारे में उसकी भावना जानने के लिए दासियों को नगर में भेजा।

नगर में चारों ओर राज्य की दुर्व्यवस्था की निन्दा हो रही थी। लोग कहते थे कि रानी के प्राप्त होने पर तो राजा को राज्य की दशा सुधारना चाहिए थी, प्रजा को सुखी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए था और राजकाज देखना चाहिए था। परन्तु इसके विपरीत रानी के मिलते ही राजा विषय-लम्पट बन गया है। राज्य का कार्य तो नौकरों के भरोसे

छोड़ रखा है। उसकी नजर तो केवल रानी को ही ताका करती है।

राजा और प्रजा में पिता-पुत्र का-सा सम्बन्ध होता है। पुत्र यदि अनीति करता है या अपने कर्तव्य से पतित होता है तो पिता उसे शिक्षा द्वारा ऐसा करने से रोकता है और पिता अपने दायित्व से विमुख और अनीति में प्रवृत्त हो तो पुत्र के लिये भी पिता के ऐसे कार्यों का विरोध करने की धर्माज्ञा है। उस समय की प्रजा अपने और राजा के कर्तव्य को जानती थी, इसलिए उसे अपनी ही स्त्री के मोहजाल में फंसे राजा की कटु आलोचना करने में कुछ भी भय नहीं हुआ। लेकिन आज की प्रजा को अपने व राजा के कर्तव्य का ज्ञान न होने से वह राजा के अनेक अन्यायों का भी विरोध नहीं करती है। अन्यायी कहने का साहस भी नहीं कर सकती है।

दासियों ने नगर में घूमकर जो कुछ देखा और सुना, वह सब रानी को कह सुनाया। प्रजा की भावना और बातों को सुनकर रानी उसकी प्रशंसा करने लगीं एवं पति को भान में लाने के लिए अधीर हो उठीं। लेकिन इसके साथ ही उन्हें एक दूसरी चिन्ता और हो गई कि पति के मोह को किस प्रकार दूर किया जाए ? अन्त में सोचते-सोचते उन्हें उपाय सूझ ही गया और वे उसे कार्य रूप में परिणत करने के लिए तत्पर हो गईं।

बड़े आदमियों को कुमार्ग से सुमार्ग पर

ही कठिन है जितना सूखी लकड़ी को झुकाना और फिर उसमें भी राजाओं को सुधारना तो और भी कठिन है जो अपनी हठ के लिए प्रसिद्ध हैं। लेकिन उद्योगी मनुष्य के लिए कोई भी कार्य असंभव नहीं है। उनका तो सिद्धांत रहता है—

"शरीरं वा पातयामि, कार्यं वा साधयामि।"

या तो कार्य सिद्ध करके हीं रहेंगे अथवा उसी पर मर मिटेंगे।

२. रानी का निश्चय

मानवोत्तम दूसरों को सुधारने और सुमार्ग पर लाने के लिए स्वयं कष्ट सहन किया करते हैं। जितने भी महापुरुष हुए हैं, उनके जीवन-चरित्रों से यह बात भली प्रकार सिद्ध है कि उन्होंने जो दुःख उठाया है। स्वयं कष्ट सहकर, त्याग दिखाकर एवं आचरण कर जो उपदेश दिया जाता है, जो आदर्श उपस्थित किया जाता है, उसका प्रभाव अचूक और स्थायी होता है। लेकिन दूसरों को ही उपदेश देने में कुशल लोगों के उपदेश निरर्थक सिद्ध होते हैं तथा उनसे कोई लाभ नहीं होता है। आज के अधिकांश उपदेशक, शिक्षक, अधिकारी और नेता इसी दोष के कारण अपने उपदेशों द्वारा सुधार करने तथा जनता को सुमार्ग पर लाने में असफल सिद्ध हुए हैं। बहुत-से लोग दूसरों के दुर्गुण मिटाने के लिए स्वयं भी दुर्गुणों से काम लेते हैं। लेकिन दुर्गुण से दुर्गुण मिटते नहीं वरन बढ़ते हैं। आज के अधिकांश पति-पत्नी भी एक-दूसरे के दुर्गुणों को दूर करने के लिए किसी-न-किसी दुर्गुण से ही काम लेते सुने जाते हैं। लेकिन ऐसा करने पर वे असफल ही नहीं होते बल्कि दुर्गुणों की वृद्धि में सहायक ही बनते हैं। सद्गुण ही दुर्गुणों का नाश करने में

समर्थ है और सद्‌गुणों की सहायता से ही मनुष्य दुर्गुणों को छुड़ाने के कार्य में सफल हो सकता है।

रानी विचार करती हैं कि प्राणनाथ को मोह में फंसाने, उन्हें अपने कर्तव्य से पतित करने, उनके शारीरिक सौन्दर्य और नैसर्गिक गुणों का नाश करने का कारण मैं ही हूँ। मेरी हंसी, मेरा शृंगार, मेरा राग-रंग पति के लिए घातक हुआ है। मोह के नाश का उपाय त्याग है। अतः मैं त्याग को ही अपनाऊंगी और विलासकारी कार्यों से विरक्त हो अपने प्राणधार को मोह के दलदल से निकाल कर दिखला दूंगी कि स्त्री-प्रेम कैसा होता है? स्त्रियाँ क्या कर सकती हैं और स्त्रियों का क्या कर्तव्य है? अपने पति को मोहावस्था से जागृत करूंगी। मैं वैरागिन तो नहीं बनूँगी परन्तु उस शृंगार को अवश्य त्याग दूंगी जो मेरे पति को, मेरे ससुर के निर्मल वंश को, एक राजा के कर्तव्य को और पुरुष के पुरुषार्थ को कलंकित कर रहा है। पति मुझे प्राणों से भी प्रिय हैं, वे मेरे पूज्य हैं अतः उनसे प्रेम नहीं त्यागूंगी। लेकिन उनकी मोहनिद्रा को भंग करने, उन पर लगे कलंक को धो डालने के लिए मैं कष्ट सहकर भी पति को कर्तव्य-परायण बनाऊंगी। उनकी गणना नीतिज्ञ तथा प्रजावत्सल नरेशों में कराऊंगी। साथ ही स्त्रीजाति के लिए आदर्श उपस्थित कर दूंगी कि अपने आराध्य-देव पति को किस प्रकार नम्रता, त्याग और तपस्या से सन्मार्ग पर लाया जा सकता है। मैं अपने पति की हित-कामना से उनकी शिक्षिका बनूंगी

और शिक्षा ऐसी दूंगी कि जिससे वे स्वयं ही मेरी प्रशंसा करें।

कहाँ तो आज की वे स्त्रियाँ जो पति को अपने मोह-पाश में आबद्ध रखने के लिए अनेक उपाय करती हैं, जादू-टोना कराकर पति को वश में रखने की चेष्टा करती हैं और फिर उसे अपने वश में पाकर, अपना आज्ञाकारी सेवक जान-कर प्रसन्न होती हैं, अपना गौरव समझती हैं और फिर अपने दोनों जनों के सर्वनाश का कुछ भी ध्यान नहीं रखती हैं। लेकिन कहाँ तारा जो अपने पति को अपने मोहपाश से छुड़ाने, उसे कर्तव्य-पथ पर स्थिर करने और कलंक से बचाने का उपाय कर रही है। तारा के समान स्त्रियों ने ही आज भारतीय स्त्री का गौरव रखा है।

देखते-ही-देखते रानी ने उन वस्त्राभूषणों को, जिनके धारण करने पर उसकी सुन्दरता सोने में सुगंध की तरह बढ़ जाती थी, जो उसे विशेष प्रिय थे, जिन्हें अपने रूप-लावण्य की वृद्धि में सहायक मानती थी एकदम उतारकर फैंक दिया और ऐसे साधारण वस्त्राभूषण पहन लिए जिनसे कभी प्रेम भी नहीं करती थी। उसके हंसते और प्रफुल्ल चेहरे पर गंभी-रता छा गई।

ऐसी वेषभूषा देख दासियाँ घबरा गईं और आश्चर्य-चकित हो वे रानी से सविनय पूछने लगीं कि—आज आप यह क्या कर रही हैं? आपके स्वभाव तथा आकृति के इस अचानक परिवर्तन का कारण क्या है? रानी से इसका उत्तर न पाकर वे कहने लगीं कि—आप इन्हें धारण कर लीजिए

और अपनी गंभीरता का कारण बतलाइए ।

लेकिन रानी के मन में तो आज दूसरी ही बात घुमड़ रही थी। आज उसने तो अपना कुछ कर्तव्य निश्चित कर लिया था। इसलिये उसने दासियों पर कृत्रिम क्रोध प्रगट करते हुए कहा कि—मुझे इनकी आवश्यकता नहीं है और भविष्य के लिये भी मैं तुम्हें सचेत किए देती हूँ कि मेरे पास ऐसी कोई वस्तु नहीं जाए।

रानी के स्वभाव में इस प्रकार का आकस्मिक परिवर्तन देख और उत्तर सुन दासियों की घबराहट और भी बढ़ गई। वे ऐसा करने के कारण का भी अनुमान नहीं लगा सकीं कि आज रानी को क्या हो गया है जो योगनियों की तरह वैराग्य दशा धारण की है और इस प्रकार गंभीर बन गई हैं। इसकी सूचना राजा को देने के लिये दासियाँ दौड़ी गईं। संवाद पाते ही राजा चिन्ता में निमग्न हो महल में आए और इस दशा को देख राजा की चिन्ता व आश्चर्य का पार न रहा। रानी की मुख मुद्रा देख राजा विचारने लगे कि आज जैसा चेहरा तो मैंने कभी नहीं देखा था। इस परिवर्तन का कारण क्या है?

ऐसे पुरुषों के बारे में कहा जाता है कि कितना ही वीर क्यों न हो, किन्तु वह कामी है तो प्रिय स्त्री को रुष्ट जानकर अवश्य ही घबरा जाता है और उसका धैर्य छूट जाता है। इसीलिए किसी कवि ने कहा है—

व्याकीर्ण केशर करालमुखा मृगेन्द्रा,

नागाश्च भूरि मदराजिविराजमानः ।
मेधाविनश्च पुरुषाः समरेषु शूराः,
स्त्री सन्निधौ परम कापुरुषा भवन्ति ॥

गर्दन पर बिखरे हुए बालों वाले करालमुखी सिंह, मदोन्मत्त हाथी और बुद्धिमान समरशूर पुरुष भी स्त्रियों के आगे परम कायर हो जाते हैं ।

राजा हरिश्चंद्र भी रानी की इस दशा को देखकर सहम उठे और कामी पुरुषों के स्वभावानुसार डरते-डरते रानी से पूछा—आज क्या हुआ है तुम्हें ?

तारा—क्या हुआ है नाथ ! आज यह प्रश्न किस बात को देखकर आप कर रहे हैं ?

हरिश्चन्द्र—जिस शरीर को तुम सदा सजाए रहती थीं, जो अंग-प्रत्यंग आभूषणों से लदे रहते थे, वे आज शृंगार और आभूषणों से विहीन क्यों हैं ? तुम्हारा प्रफुल्लित मुख आज गंभीर क्यों ? मेरे मन को आकर्षित करने वाली मधुर मुस्कान आज कहाँ छिप गई ? इस रूप को देखकर उत्सुकता हो रही है कि ऐसी निष्ठुरता क्यों धारण कर ली और ऐसी उदासीनता का कारण क्या है ?

(तारा—स्वामिन् ! बस करो। झूठा प्रेम जताने के लिए ऐसी प्रशंसा मत करो ।)

हरिश्चन्द्र—झूठा प्रेम कैसा ! क्या मेरा यह कृत्रिम प्रेम है ? क्या मैं तुमसे प्रेम नहीं करता हूँ ?

तारा—स्वामिन् ! यदि आप मुझसे सच्चा प्रेम करते

होते तो आज ऐसा कहने का अवसर ही क्यों आता ?

हरिश्चन्द्र—कैसे जाना तुमने कि मैं प्रेम नहीं करता हूं । आज तुम्हें मेरे प्रति ऐसी शंका होने का कारण क्या है ? तुम्हारे ऊपर तो मैंने सारा राजपाट ही न्यौछावर कर दिया है । सदा तुम्हारे प्रेम का भिखारी बना रहता हूं । तुम्हारे प्रेम के लिए संसार को भी कुछ नहीं समझता और विशेष तो क्या कहूँ, यदि आराध्य देवी हो तो तुम्हीं हो । फिर यह शंका कैसी ?

तारा—स्वामी ! अब मैं आपके झूठे भुलावे में नहीं आ सकती । जो अब तक समझती रही, वह तो मेरा केवल एक भ्रम था ।

रानी की बातें सुनकर राजा हरिश्चन्द्र विचार में पड़ गये । उत्तर देना तो दूर रहा, जो कभी सन्मुख भी नहीं बोलती थी, उस रानी को आज क्या हो गया है ? राजा ने दासियों से भी कारण जानना चाहा, किन्तु वे क्या उत्तर देतीं ? राजा ने बहुत विचारा लेकिन कारण उनकी समझ में नहीं आया । अतः विवश हो पुनः रानी से पूछा—आज तुम्हारा मन कैसा है ?

तारा—क्या मैंने आपसे कोई दुर्वाक्य कहे हैं या कोई विक्षिप्तता की बात कही है जो आपने ऐसा प्रश्न किया ?

हरिश्चंद्र—यदि तुम्हारे मन में कोई विषमता न होती तो ऐसी बातों और व्यवहार का कारण क्या है ?

तारा—मैं भ्रमवश आपके जिस अनादर म

और जिस व्यवहार को प्रेम समझती थी, उसका असली तत्त्व तो अब मैं समझ सकी हूँ। वह मेरा भ्रम था। अब मैं समझ पाई हूँ कि आपकी दृष्टि में मेरा उतना भी आदर नहीं है जितना एक दासी का होता है और मेरे प्रति प्रदर्शित प्रेम असली नहीं, बनावटी है।

हरिश्चन्द्र—मुझे तो याद नहीं कि कभी मैंने तुम्हारा अनादर किया हो। तुमने किस समय परीक्षा ली जब मेरा प्रेम बनावटी सिद्ध हुआ हो? जब मेरे जीवन का आधार तुम्हारा प्रेम है तो फिर मैं बनावटी प्रेम कैसे कर सकता हूँ? क्या मैंने तुम्हें कभी अपशब्द कहे हैं? यदि नहीं तो फिर कैसे जाना कि मैं तुम्हारा निरादर करता हूँ और सच्चा प्रेम नहीं करता हूँ।

तारा—स्वामी! मेरी इच्छित वस्तु, मेरे शृंगार, मेरे आभूषण आप ही हैं तो मुझे अन्य वस्तुओं की क्या आवश्यकता है? लेकिन यदि आपका मुझ पर सच्चा प्रेम है और मेरा सम्मान करते हैं, आपके हृदय में मेरे लिए स्थान है तो परीक्षा के लिए आज मैं छोटी-सी प्रार्थना करती हूँ। यदि आप मेरा मनोरथ पूर्ण कर देंगे तो समझ जाऊँगी कि यह मेरी भूल थी और उसके लिए पश्चात्ताप भी कर लूंगी।

हरिश्चन्द्र—बस इतनी-सी बात। तो बताओ अपना मनोरथ। यदि मैं तुम्हारी इच्छित वस्तु लाने में असमर्थ रहा तो अपने आपको अयोग्य समझूंगा।

तारा—अच्छा हो कि प्रण करने के पहले आप एक

बार पुनः विचार कर लीजिएगा ।

हरिश्चन्द्र—मैं सोच चुका, अच्छी तरह विचार चुका। तुम तो अपनी इच्छा बतलाओ ।

तारा—प्रभो! अपनी प्रार्थना सुनाने से पहले मैं भी अपना प्रण सुनाए देती हूँ कि जब तक मेरी प्रार्थना स्वीकार न होगी, मेरी इच्छित वस्तु प्राप्त न होगी, तब तक मैं आपसे भेंट नहीं करूँगी ।

हरिश्चन्द्र—तुम्हारा प्रण मुझे स्वीकार है । अब तुम अपनी इच्छा प्रगट करने में देर न करो ।

इन बातों से राजा ने समझा कि रानी किसी वस्त्राभूषण की इच्छुक है और प्राप्त करने के लिए ही यह मान का प्रपंच रचा गया है । लेकिन उन्हें मालूम नहीं था कि यह सब मुझे जागृत करने के लिए कर रही है ।

हरिश्चन्द्र के बार-बार उत्सुकता प्रगट करने पर रानी ने कहा—प्राणनाथ ! मुझे एक ऐसे मृग-शिशु की आवश्यकता है जिसकी पूंछ सोने की हो । मैं जब उससे रोहित का खेल कराऊँगी तभी उसके लाभ भी आपको बतलाऊँगी ।

हरिश्चन्द्र—बस इतनी-सी बात ! यही छोटी-सी बात मेरे प्रेम की परीक्षा है । मैं ऐसे एक नहीं अनेक मृग-शिशु मंगाए देता हूँ ।

तारा—नहीं, नाथ, मैं तो दूसरे से मंगवाया हुआ मृग-शिशु नहीं लूंगी । मैं तो वही लूंगी, जिसे आप स्वयं लाएं।

हरिश्चन्द्र—अच्छी बात, मैं स्वयं ही ला दूंगा ।

तारा—लेकिन स्वामी एक और बात है कि आप मेरे निवास-स्थान में उसी समय पधारें जब मेरी इच्छित वस्तु प्राप्त कर चुकें ।

राजा आवेश वश इस बात का उत्तर 'ठीक है' कह-कर चल दिए । उन्हें विश्वास था कि मैं रानी की परीक्षा में असफल नहीं रह सकता और सोने की पूंछ वाला मृग-शिशु पकड़कर अवश्य ला दूंगा । लेकिन उन्होंने इस बात का तो विचार ही नहीं किया ही रानी जैसा मृग-शिशु मांग रही है, वैसा इस संसार में होता भी है या नहीं । उनके दिमाग में तो यही एक विचार घूम रहा था कि मैं शीघ्र रानी की इच्छा पूर्णकर पुनः उसका प्रेम प्राप्त करूँ ।

माननी के मान का अभिप्राय राजा को कष्ट में डालना नहीं था वरन इस बहाने महल की चहारदीवारी से बाहर निकाल शुद्ध सात्विक वातावरण में ले जाना था । वन की वायु, वन के दृश्य और वन-भ्रमण के लाभ से परि-चित कराना था ।

रानी का विचार था कि महल में पड़े रहने के कारण राजा की जो कांति घट गई है, जो उत्साह नष्टप्रायः हो गया है वह वन में कुछ समय रहने से वृद्धिगत होगा । वनों के दुःखों को सहने से उन्हें दुःखों का अनुभव होगा और साथ ही मुझ पर जो मोह है वह भी कम हो जाएगा ।

३ . प्रणपूर्ति के लिए प्रयत्न

वस्तु का आदर उसकी न्यूनता में होता है । जिन भोजन-वस्त्रादि को धनिक लोग तुच्छ समझते हैं, वे ही दीनों के लिये महान हैं और प्राप्त होने पर उनका सत्कार करते हैं एवं अपने को धन्य मानते हैं । तात्पर्य यह कि वस्तु की न्यूनता आदर का कारण है । छाया का सुख वही जान सकता है जो ताप के दुख: का अनुभव कर चुका हो ।

महाराज हरिश्चन्द्र सोने की पूंछ वाले मृग को खोजने वन में पहुंचे । वहाँ की सघन छाया, शीतल हवा और पक्षियों के कलरव से राजा का मन बहुत ही प्रसन्न हुआ और विचारने लगे कि मैंने महलों में रहकर जो पंखे झलवाये, गीत-वाद्य सुने, वे इस प्राकृतिक पवन और पक्षियों के गान के समक्ष तुच्छ हैं ।

मनुष्य के विचारों का प्रभाव उसकी आकृति पर पड़े बिना नहीं रहता । शिकारियों को देखकर चौकड़ी भरने वाले हरिण अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित राजा को देखते हुए भी इस प्रकार निर्भय थे मानो पाले हुये हों । राजा को देख वे ऐसे प्रसन्न हो रहे थे मानो परिचित हों और स्वागत के लिये खड़े हों । अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित राजा का इन्हें किंचित्

भी भय नहीं था और जैसे इन्हें भी हिंसक-अहिंसक, उपकारी-अपकारी और वधिक तथा रक्षक का ज्ञान हो या उसकी आकृति से ये समझ लेते हों।

महाराज हरिश्चन्द्र इन मृगों की तुलना रानी के नेत्रों से करते हुये विचारने लगे कि जिनकी उपमा देकर में रानी को मृगनयनी कहा करता हूँ, उन दोनों में तो बड़ा अन्तर है। कहाँ तो इन बेचारों मूक पशुओं के निष्कपट नेत्र और कहाँ वे रानी के कपट से भरे नेत्र ! कहाँ तो इनके नेत्रों में भरा हुआ प्रेम का सरोवर और कहाँ रानी के नेत्रों की वह निष्ठुरता। कहाँ ये नेत्र जो मुझे देखकर अपने को सफल मान रहे हैं और कहाँ वे नेत्र जो अनुनय-विनय करने पर भी मेरी ओर नहीं देखते तथा कभी-कभी जिनसे क्रोध बरसता है। हाय-हाय ! मैंने इन नेत्रों की उपमा रानी के नेत्रों को देकर बड़ा ही अन्याय किया है।

ऐसे ही विचारों में उलझे महाराज हरिश्चन्द्र को जब अपने कार्य का ध्यान हुआ तो वे मृगों के उस झुण्ड में सोने की पूंछ वाला मृग खोजने लगे, परन्तु उनमें एक भी दिखाई न दिया जिसकी पूंछ सोने की हो। राजा उसी की खोज में जैसे-जैसे आगे बढ़ते जाते थे, वैसे-वैसे वनश्री के प्राकृतिक सौन्दर्य को देख-देखकर प्रसन्न हो रहे थे। शीतल सुगन्ध युक्त पवन राजा में एक नवीन स्फूर्ति उत्पन्न कर रही थी और रानी के व्यवहार से उत्पन्न मानसिक खेद मिटता जा रहा था।

यद्यपि वन में राजा के हृदय को शांति प्रदान करने

वाले दृश्यों की कमी नहीं थी किन्तु राजा पूर्णतया आनंदित न हो सके। रह-रहकर उन्हें रानी के व्यवहार की याद आ जाती थी और किये गए प्रण का स्मरण आते ही उसे पूर्ण करने के लिये अधीर हो उठते थे। चलते-चलते वे कलकल करते हुए अवाधगति से बह रहे झरने के समीप पहुंचे। उसके तट के सघन वृक्षों पर विश्राम करने के लिए बैठे हुए पक्षियों का कलरव मानो अपने उपकारी वृक्षों और झरने की प्रशंसा कर रहा था। प्यासे पशु झरने के जल को पीकर ऐसे संतुष्ट हो रहे थे जैसे किसी महादानी के दान से भिक्षुक संतुष्ट हो जाते हैं।

यद्यपि राजा महल की अपेक्षा यहाँ अधिक प्रसन्न दीख पड़ते थे परन्तु भूख और घूमने-फिरने के परिश्रम से हृदय कुछ खिन्न हो गया था और झरने के किनारे पहुंचकर एक वृक्ष की छाया में चट्टान पर बैठ गए एवं झरने के जल व वृक्षों के फलों से अपनी भूख-प्यास मिटाकर विचारने लगे।

झरने ! तू अपनी गति और शब्द से केवल मुझे ही नहीं बल्कि सारे संसार को एक शिक्षा दे रहा है। मेरे आने से पहले भी तू इसी प्रकार से बह रहा था और मेरे आने पर भी वैसे ही बह रहा है तथा जब मैं चला जाऊंगा तब भी अपनी गति में अंतर नहीं आने देगा। इससे प्रगट है कि न तो तुझे मेरे आने से कोई हर्ष हुआ और न मेरे जाने से तुझे किसी प्रकार का विषाद ही होगा। तू सदैव अपनी गति, अपने संगीत को एक ही रूप में रखता है।

किनारे पर लगे हुए हरे-भरे वृक्षों की सम्पत्ति पर न तो तुझे अभिमान होता है और न तेरे निर्मल जल को मलिन बनाने वालोंपर क्रोध ही। सिर्फ प्राकृतिक नियमों का पालन करते हुए और पहाड़, पत्थरों आदि की बाधाओं से किंचित् भी भय-भीत हुए बिना अविराम गति से वह रहा है और सबको अपना अनुकरण करने का बोध दे रहा है।

तेरे संगीत-सा संगीत मैंने रानी का भी सुना है। परन्तु जो सरलता तेरे संगीत में है वह रानी के संगीत में नहीं मिली। तू स्वाभाविक सरलता से अपना शब्द सुनाता है और रानी कृत्रिम सरलता से। तू सदा राग अलापता है और रानी मेरे कहने पर अलापती है। हे जलस्रोत! तू अपना अकृत्रिम नाद सुनाकर सबको कृत्रिम नाद से बचने का उपदेश देता है।

प्रिय मित्र! कल तक मैं जिस नाद के सुनने में आनंद मानता था वह कृत्रिम था, इस बात को मैं आज तेरी सहायता से ही समझ सका और यह अवसर मुझे रानी की कृपा से ही प्राप्त हुआ है। रानी का कहना कि आप मेरा तिरस्कार करते हैं, ठीक था। वास्तव में आज तक मैं व रानी एक दूसरे का अपमान ही करते रहे। हम दोनों ने कभी भी तेरे जल और शब्द की तरह निर्मल और अकृत्रिम बात नहीं कही। यह तो एक प्रकार से अपमान ही था। संभवतः तुझसे उपदेश प्राप्त करने के लिए ही रानी ने मृग-शिशु लाने के बहाने मुझे यहाँ भेजा हो।

यकायक राजा को ध्यान आया कि मैं आयातो हूँ सोने की पूंछ वाले मृग की खोज में और बैठ गया यहाँ आकर। अतः मुझे अपने प्रण को पूर्ण करने का उपाय करना चाहिये। यहाँ बैठने से काम नहीं चलेगा।

राजा वहाँ से उठे और वन की छटा, भौरों की गुन-गुन, हिंसक पशुओं की गर्जना और पक्षियों की किलोल-क्रीड़ा को देखते-सुनते सोने की पूंछ वाले मृग-शिशु की खोज में चल पड़े। छह दिन तक सारा वन छान मारा, परन्तु उन्हें ऐसा एक भी मृग-शिशु दिखलाई न दिया, जिसकी पूंछ सोने की हो।

सातवें दिन राजा को अपना प्रण पूर्ण न कर सकने का बहुत ही खेद हुआ। वे निराश होकर सोचने लगे कि मैं एक क्षत्रिय होकर भी स्त्री को दिये हुए वचन का पालन न कर सका। रानी! तेरी आकृति को देखने से तो ऐसा नहीं जान पड़ता था कि तू ऐसी अप्राप्य वस्तु के लिए मुझे कष्ट में डालेगी। यह निष्ठुरता तेरे हृदय में कहाँ छिपी थी जिसे मैं आज तक न समझ सका।

राजा विचार करने लगे कि रानी की ऐसी अप्राप्य वस्तु की मांग का कारण क्या है? यह तो सम्भव नहीं कि रानी अकारण ही मुझे कष्ट में डाले, वन-वन भटकाए। अकस्मात विचारमग्न राजा हर्ष से उछल पड़े और कहने लगे—रानी! तेरी मांग का कारण मैं समझ गया। वास्तव में मैं तेरा अनादर ही करता था। मैं स्वयं विषय-भोगों में लिप्त रहूँ,

तुझे उसका साधन मानूं और अपने कर्तव्य को न देखूं, यह कदापि तेरा आदर नहीं कहला सकता। तूने सोने की पूंछ वाला मृग-शिशु लाकर न देने तक अपने महल में न आने का प्रण कराकर मेरा उपकार ही किया है। इसमें न तो तेरा कुछ स्वार्थ है और न मुझे कष्ट में डालना ही तुझे अभीष्ट है। बस तेरा ऐसा करने का अभिप्राय यही है कि मैं इस विषय-विष से—जिसे मैं अब तक अमृत समझता था, बच जाऊं। तूने तो मेरा बड़ा उपकार ही किया है। तेरी कृपा से आज मुझे अवर्णनीय आनंद प्राप्त हुआ है। रानी! तूने मुझे मेरा कर्तव्य-पथ दिखला दिया है। इसके लिए मैं तुझे अनेक धन्य-वाद देता हूं और आभार मानता हूँ। मैं तेरी इच्छित वस्तु प्राप्त न कर सका, इसलिए सम्भव है कि तू मुझसे रूठी रहे, लेकिन तेरी यह निष्ठुरता मुझे कर्तव्य-पथ पर चलने में और सद्विवेक को जागृत करने में सहायक सिद्ध होगी।

इन विचारों से राजा का मन प्रसन्न हो उठा और उन्होंने राजधानी की ओर अपना घोड़ा बढ़ा दिया।

४ . एकाकी की व्याकुलता

शिक्षा देने वाले यद्यपि ऊपर से तो कठोर व्यवहार करते हैं, परन्तु हृदय में सदैव दया, कृपा और सहानुभूति के ही भाव रखते हैं। उनके हृदय में दुर्भाव नहीं रहता। इसी से वे उन शिक्षाओं को हृदयस्थ कराने के लिए हर प्रकार के उपाय काम में लेते हैं। एक कवि ने कहा है—

गुरु परजापति सारखा, घड़-घड़ काढ़े खोट।
भीतर से रक्षा करे, ऊपर लगावे चोट॥

गुरु और कुम्हार, दोनों एक सरीखे के होते हैं, जिस प्रकार कुम्हार घड़े की बुराई दूर करने के लिए ऊपर से तो चोट लगाता है, परन्तु भीतर से हाथ द्वारा उसकी रक्षा करता रहता है, उसी प्रकार गुरु ऊपर से तो कठोर रहते हैं परन्तु हृदय से शिष्य का भला ही चाहते हैं।

यहाँ पर गुरु का कार्य रानी कर रही थी। यद्यपि ऊपर से तो निष्ठुर थी, परन्तु हृदय में राजा के प्रति अगाध प्रेम रखती थी।

यद्यपि राजा से सोने की पूंछ वाला मृग-शिशु लाए बिना महल में न आने की प्रतिज्ञा तो रानी ने करा ली; परन्तु हृदय में चैन नहीं था। उनके मन में रह-रहकर बस

एक ही विचार आता था कि मैंने पति से अप्राप्य वस्तु तो मंगाई है लेकिन न जाने उसके लिए उन्हें कहाँ-कहाँ भटकना पड़ेगा और न जाने कैसे-कैसे कष्ट उठाने पड़ेंगे ।

नित्य की तरह संध्या के समय जब राजा महल में नहीं आए तो रानी विचारने लगीं कि आज नाथ क्यों नहीं आए ? तो उन्हें ध्यान हुआ कि मैंने ही तो सोने की पूंछ वाला मृग-शिशु न लाने तक पति से महल में न आने का प्रण करवाया है ।

फिर भी महल में स्वामी के होने, न होने का पता लगाने के लिए रानी ने दासी को भेजा । लौटकर उसने बतलाया कि वे महल में नहीं हैं ।

दासी के उत्तर को सुनते ही रानी चिन्तित हुईं और मन-ही-मन कहने लगीं कि मेरी ही वस्तु की खोज में नाथ वन में गए हैं । परन्तु मैंने तो ऐसी वस्तु मांगी है जो मिल ही नहीं सकती । हृदयेश्वर ! आज आपको न जाने कैसे-कैसे कष्टों का सामना करना पड़ रहा होगा । आज आपने कहाँ भोजन किया होगा ? मुझ अभागिनी ने ही आपको इन कष्टों में डाला है, परन्तु इसमें मेरा किंचित् भी स्वार्थ नहीं है । मुझे आपका, प्रजा का और मेरा कल्याण ऐसा करने में ही दिख पड़ा और मैं करने के लिए विवश हुई । प्राणाधार ! मेरे हृदय में आपके प्रति वही प्रेम है, लेकिन उसी प्रेम से इस समय आपको कष्ट प्राप्त हो रहा होगा ! अतः मैं भी प्रण करती हूँ कि जब तक आपके दर्शन न कर लूं, तब तक न तो

अन्न-जल ग्रहण करूँगी और न शैया पर ही शयन करूँगी। मैं तो सुख में रहूँ और आप कष्ट पाएँ, यह अनुचित है। मैं आपकी अर्धांगिनी हूँ अतः आप दुःख सहें और मैं सुख में रहूँ यह बात मेरे कर्तव्य को शोभा नहीं देती। यदि मैंने हित को दृष्टि में रखकर ऐसी अप्राप्य वस्तु मांगी है तो मेरी तपस्या अवश्य ही आपके और मेरे कष्टों को दूर करके कल्याणकारी होगी।

इस प्रकार चिन्ता में विकल रानी के भी छह दिन बीत गए। सातवें दिन चिन्ताग्रस्त रानी उपवन में आकर एक कुण्ड पर बैठ गईं और कमल को सम्बोधित कर कहने लगीं—कमल! इस समय तू कैसा प्रसन्नचित्त होकर छटा फैला रहा है। यदि इस समय कोई तुझे उखाड़ डाले तो तेरी प्रसन्नता और छटा का घात हो जाएगा। तेरे बनने में तो समय लगा है, परन्तु नाश करने वाले को कुछ भी समय नहीं लगेगा। जिस प्रकार तुझे प्रकृति ने पाला-पोसा है उसी प्रकार मेरे पति-कमल के लालन-पालन में उनके माता-पिता ने न मालूम कितने कष्ट सहे होंगे, परन्तु मुझ पापिन ने इसका विचार न करके एक क्षण में ही उखाड़ दिया है। मैं घोर पापिन हूँ। हाय! इन सात दिनों में न मालूम उन्होंने कैसे-कैसे कष्ट उठाए होंगे और न जाने कितने प्रकार के संकटों का सामना करना पड़ा होगा।

ऐसी-ऐसी अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करती हुई रानी गंभीर चिन्ता-सागर में निमग्न हो गईं कि उन्हें अपने तन

की भी सुध न रही।

उधर राजा वन से लौटकर विचारने लगे कि पहले मैं रानी को तो देखूं, जिसने मुझे सात दिन तक वन-वन भटकाया और इस बात का भी पता लगाऊँ कि मेरे वन जाने और कष्ट सहने का उसे दुःख है या नहीं। क्योंकि स्त्री की परीक्षा कष्ट में ही होती है। यद्यपि रानी ने सोने की पूंछ वाला मृग-शिशु लाए बिना अपने महल में आने से रोक दिया है लेकिन आज तो मैं कुछ दूसरे ही विचारों को लेकर रानी के महल में जा रहा हूँ।

राजा ऐसा विचार कर रानी के महल में पहुंचे परंतु वहाँ रानी न दीख पड़ीं। दासियों से पूछने पर मालूम हुआ कि रानी समीप के उपवन में हैं। महाराज हरिश्चन्द्र उपवन में पहुंचे। वहाँ पर निस्तेज, कृश-शरीर रानी को योगियों की तरह चिन्ता-मग्न देख राजा विचारने लगे कि मैंने वन में रहकर जितने कष्ट उठाए हैं, उन से भी अधिक कष्टों का अनुभव रानी महल में ही रह कर रही है। संभवतः अभी भी रानी मेरी ही चिन्ता में डूबी हुई है। इस प्रकार का विचार करके राजा ने पुकारा—प्रिये, कुशल तो हो।

राजा के शब्द सुनते ही रानी के हृदय में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई और विचारने लगीं कि क्या वे आ गए? अवश्य आ गए होंगे। अन्यथा मुझे 'प्रिये' कहकर कौन संबोधित करता?

यद्यपि राजा को आया जान तारा के हृदय में अपार

आनंद हुआ लेकिन उसे प्रकट नहीं होने दिया । सोचा कि हर्षावेश में यदि मैंने प्रगट कर दिया तो जिस अभिप्राय से इतने दिन मैंने इनको वन-वन में भटकाया है, उसमें सफलता प्राप्त नहीं होगी और स्वामी पर लगे जिस कलंक को मिटाना चाहती हूँ, उसे मिटा न सकूंगी ।

ऐसा सोचकर रानी ने गम्भीर दृष्टि से राजा की ओर देखकर पूछा—प्रभो ! आप पधार गये ?

राजा—हाँ प्रिये, आ तो गया हूँ !

रानी—हृदयवल्लभ ! और मेरी वस्तु कहाँ है ?

राजा—प्रिये ! तुम विचारो तो सही कि जो वस्तु तुमने मांगी है, क्या उसका प्राप्त होना सम्भव है ? तुम राजवंश की कुलवधू हो और एक राजा की सहधर्मिणी हो, फिर भी इतनी अज्ञानता कि तुमने ऐसे मृग-शिशु की मांग की कि जिसे प्रत्यक्ष में देखना तो दूर, कभी स्वप्न में भी नहीं देखा है, न किसी ने सुना है और न पुस्तकों में भी पढ़ा है । मैंने सात दिन तक उसे वनों में खोजा, परन्तु मुझे तो एक भी ऐसा मृग या मृग-शिशु दिखलाई नहीं पड़ा, जिसकी पूंछ सोने की हो । यदि वैसे मृग संसार में होते तो कदाचित मैं पकड़ भी न पाता लेकिन मेरी दृष्टि से छिपे नहीं रह सकते थे । मैं यह नहीं कहता कि तुमने सर्वथा अप्राप्य वस्तु मांगकर मेरी इतनी कठिन परीक्षा क्यों ली है ? इसलिए अब मेरे कथन पर विश्वास करो और निष्ठुरता को छोड़कर पहले की तरह प्रेम-व्यवहार करो ।

रानी—अच्छी बात है नाथ ! मैं यह तो नहीं कह सकती कि आप जो कुछ भी कह रहे हैं, वह अनुचित है, परन्तु मुझ अभागिनी के लिए आपके हृदय में स्थान कहाँ है, जो मेरी मांगी हुई वस्तु ला दें। मेरे लिए तो तिरस्कार और कपट भरा झूठा प्रेम ही है । यदि मैंने आपसे कोई अप्राप्य वस्तु मांगी थी तो उसी समय कह देते जिससे न तो मैं ही प्रतिज्ञा करती और न आपसे ही कराती। आप भी क्षत्रिय हैं और मैं भी क्षत्राणी हूँ और प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहना क्षत्रियों का कर्तव्य है। मैं तो पहले ही प्रार्थना कर चुकी थी कि आप मुझसे प्रेम नहीं करते हैं । इस अनादरपूर्ण जीवन से तो मरना ही श्रेष्ठ है। (दासी को संबोधन करके) मल्लिके चल, चल ! चलो महल में चलें और अपना शेष जीवन भगवद् भजन में ही व्यतीत कर दें।

यह चलकर मल्लिका को साथ ले रानी चल दीं । राजा ठहरने के लिए कहते ही रहे परन्तु रानी न ठहरीं, तो न ठहरीं।

रानी के इस प्रकार चले जाने का तात्पर्य राजा समझ गये और विचारने लगे कि यह सब मेरे लाभ के लिए ही, मेरे हित के लिए ही रानी ने मुझसे अपने महल में न आने की प्रतिज्ञा कराई थी। कदाचित ऐसा समझना मेरा भ्रम भी हो। मेरी सहधर्मिणी होकर जब वह मेरी अपेक्षा नहीं रखती तो मैं भी क्यों उसकी अपेक्षा रखूं ? यदि मुझे रानी का वियोग असह्य हो जाएगा तो मैं पुरुष होकर भी उसे

सहन करने में क्यों असमर्थ रहूँगा ? यदि रानी अपनी प्रतिज्ञा में इतनी दृढ़ है तो मैं क्यों अशक्त रहूँ ? यह तो मेरे पुरुषत्व को कलंकित करने वाली बात है। जब हम दोनों के हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि समान हैं तो फिर मैं ही क्यों चिन्ता करूं ?

इन विचारों ने राजा को एक प्रेरणा दी और वे अपने महल में लौट आए।

५ : सुख-निद्रा का अनुभव

राजा अपने महल में आकर सो गए। आज उनका मन चिंताओं से मुक्त था और कुछ थकावट भी थी अतः ऐसी नींद आई कि जिसका अनुभव एक विशेष समय से नहीं हुआ था।

हृदय के शांत और मन के स्थिर रहने पर मनुष्यों को आनन्द प्राप्त होता है। इसकी प्राप्ति के लिये ही योगी एकान्तवास पसन्द करते हैं और जिससे वे सांसारिक झंझट से दूर व चिन्ताओं से रहित हो जाते हैं। चिन्ताओं के कारण ही मानव मन अशांत और अस्थिर रहता है। चिन्ता-ग्रस्त मनुष्य के हृदय को कभी भी और किसी काम में शांति नहीं मिलती है। उसका मन सदैव चंचल रहता है। ऐसे मनुष्य को न तो लौकिक कार्यों में और न लोकोत्तर कार्यों में किसी प्रकार आनन्द आता है। प्रतिदिन के जीवनोप-योगी कार्य—खाना-पीना, सोना आदि चिन्ताग्रस्त मनुष्य भी करता है और चिन्तारहित भी, लेकिन इन्हीं कार्यों में जहाँ चिन्ताग्रस्त मनुष्य दुःख का अनुभव करेगा वहीं चिन्तारहित मनुष्य को शांति प्राप्त होगी। मन की स्थिरता के लिये चिन्ताओं का नाश होना आवश्यक है। चिन्ताओं के पूर्ण-

तथा नाश होने पर आत्मा सच्चिदानन्द बन जाती है।

रानी भी अपने महल में लौट आई। राजा के दर्शन से उनकी एक चिन्ता तो मिट चुकी थी परन्तु अब एक दूसरी ही चिन्ता ने उन्हें आ घेरा कि स्वामी आज सातवें दिन तो पधारे हैं परन्तु मैं ऐसी पापिन कि उनसे कुशलता भी नहीं पूछ सकी, उनके कष्टों की कहानी नहीं सुनी, बल्कि उनके हृदय को विशेष दुःखित कर दिया और उनके कहने पर भी न ठहर सकी। यद्यपि यह सब किया तो मैंने उन के हित के लिए ही परन्तु ऐसा न हो कि वे मेरे अभिप्राय को गलत समझ बैठें और कहने लगें कि रानी दुष्ट हृदय वाली है, क्रूर स्वभावी है और पतिवंचक है। प्रभो! यद्यपि आज आप अनेक कष्टों को सहकर पधारे हैं। इस समय आपकी थकावट को मिटाना और सुख पहुंचाना मेरा परम कर्तव्य था परन्तु अभी मैं सेवा में उपस्थित होती हूँ तो अब तक का किया कराया और जिस अभिप्राय से मैंने स्वयं अपने आपको परेशानी में डाला है यह सब निष्फल हो जाएगा।

रानी इसी चिन्ता को दूर करने के लिए भगवान का भजन करने बैठीं। उच्चारण तो करना चाहती थी परमात्मा का नाम परन्तु बदले में निकलता था पति—पति ही। इस अन्तर के लिए रानी विचारने लगीं कि मेरे लिए परमात्मा और पति दोनों ही समान हैं। मुझे किसी विषयेच्छा से पति याद नहीं आ रहे हैं। उसे तो मैं पहले ही त्याग चुकी हूँ। अतः मेरे लिए परमात्मा और पति दोनों समान रूप

से वंदनीय हैं।

यद्यपि रानी अपने मन को अनेक प्रकार से समझाती थीं परन्तु राजा की थकावट आदि का स्मरण करके रह-रह कर मन उसी ओर चला जाता था। रानी सोचती थीं कि इस समय मुझे क्या करना चाहिए ? यदि सेवा के लिए जाती हूँ तो इस बात का भय है कि उनका मोह पुनः जाग उठे और प्रतिज्ञा भंग हो जाए और नहीं जाती हूँ तो हृदय को धैर्य नहीं होता।

इसी उधेड़-बुन में डूबी रानी ने दासी को बुलाकर कहा—मल्लिके ! वन के अनेक कष्ट सहकर थके-थकाए स्वामी अब घर पधारे हैं। अतः तू भोजन-सामग्री और तेल लेकर उसकी सेवा कर आ। यद्यपि यह कार्य है तो मेरा परन्तु मुझ अभागिन से राजा रूपी मणि दूषित हो गई है और संभव है कि पुनः जाने से और भी दूषित हो जाये। अतः इस कार्य को तू ही कर आ। जिससे पति की सेवा भी हो जाए और निर्दोष भी बने रहें।

रानी की ऐसी बात सुनकर मल्लिका चौंकी और बोली—जान पड़ता है कि स्वामिनी कि आज आपको पति-प्रेम में किसी बात का ध्यान नहीं रहा है। यदि ऐसा नहीं है तो आप मुझे इस समय अकेले महाराज के समीप जाने को न कहतीं। रात का समय, एकान्त स्थान, मैं जाऊँ और वे कामवश होकर कोई अनुचित कार्य कर बैठें, तो ! जब वे आपके सहवास से दूषित हो गए हैं तो क्या मेरे जाने पर उनके और दूषित हो

जाने की आशंका नहीं है ? महाराज आपके स्वामी हैं और आप उनकी धर्मपत्नी । अतः एकान्त में उनके समीप जाने का अधिकार आपको है मुझे नहीं है । हाँ यदि आप जाती हों तो आज्ञा देने पर मैं भी साथ चल सकती हूँ या आपकी उपस्थिति में कार्यवश उनके समीप जा सकती हूँ । परन्तु रात में अकेले उनके समीप जाने के लिए मैं क्षमा चाहती हूँ ।

यदि देखा जाय तो स्त्री-पुरुष सम्बन्धी पाप का विशेष कारण एकान्त निवास है । जिसके लिए यह दृष्टान्त देना अप्रासंगिक न होगा ।

राजा भोज ने अपने राजपंडितों से पूछा कि—

'मनो महीला विषयादितात कामस्य सत्यं जनकं कवे कः ।'

हे कवि ! काम के उत्पन्न करने वाले मन, स्त्री खान-पान आदि तो हैं ही परन्तु इसका सच्चा जनक कौन है ?

इस प्रश्न का उत्तर विद्वानों से प्राप्त न होने पर राजा ने कवि कालीदास से भी पूछा कि-क्या आप मेरे प्रश्न का उत्तर देंगे ? कालिदास ने कहा—मैं आपको इसका उत्तर कल दूंगा ।

कालिदास सभा से लौटकर घर आए और उत्तर खोजने के लिए ग्रंथों को देखना प्रारम्भ किया । किन्तु किसी भी ग्रन्थ में उत्तर न मिला ।

कालिदास की पत्नी का देहान्त हो चुका था । उनकी प्रभावती नाम की एक कन्या थी, जो उसी नगर में विवाही थी । प्रभावती नित्य अपने पिता के घर आती और भोजन

बना-खिलाकर वापस ससुराल चली जाया करती थी। रोज की तरह आज भी उसने भोजन बनाया और कालिदास से कहा कि—पिताजी भोजन कर लीजिए। लेकिन उस समय कालीदास राजा के प्रश्न का उत्तर ग्रंथों में खोज रहे थे। अतः उन्होंने बात सुनी-अनसुनी कर दी। जिससे प्रभावती ने समझा कि इस समय पिताजी किसी आवश्यक कार्य में लगे हैं और संभव है वह कार्य कुछ देर में समाप्त हो जाए। कुछ देर ठहर कर पुनः प्रभावती कालिदास के पास गई और भोजन करने के लिये कहा। परन्तु कालिदास ने उत्तर दिया कि—अभी कुछ देर ठहर कर ही भोजन करूँगा।

कालिदास के उत्तर और मुखमुद्रा से प्रभावती ने समझ लिया कि इस समय पिताजी किसी चिन्ता में डूबे हुए हैं। उसने पूछा—पिताजी आप किस चिन्ता में फंसे हुए हैं? कालिदास ने झुंझलाकर उत्तर दिया कि—तू जानती-समझती तो कुछ है नहीं, तुझे क्या पता कि मैं इस समय कौन-सा कार्य कर रहा हूँ और व्यर्थ की बातें कर मेरा समय नष्ट कर रही है।

कालिदास की झुंझलाहट को देखकर प्रभावती ने कहा कि—आप विचारिए तो सही कि मुझे दोनों घरों के कार्य करने पड़ते हैं। यदि मैं यथासमय सब कार्य न करूं तो मेरा काम कैसे चलेगा? मैं कभी से भोजन बनाकर आपसे प्रार्थना कर रही हूँ कि भोजन कर लीजिये, किन्तु आप न तो भोजन करते और न अपनी चिन्ता का कारण ही बतलाते हैं।

कम-से-कम अपनी चिन्ता का कारण तो बतला दीजिए, जिसमें मैं भी उस पर कुछ विचार कर सकूं।

कालिदास ने राजा के प्रश्न को सुनाकर कहा कि—मैंने कल तक इसका उत्तर देने का राजा को वचन दिया है परन्तु इस समय तक न तो मैं उत्तर ही विचार सका और न किसी ग्रंथ में उत्तर मिलता है।

प्रभावती ने प्रश्न को सुनकर कालिदास से कहा—बस इतनी-सी ही बात। आप चलकर भोजन कीजिए। मैं इस प्रश्न का उत्तर कल सभा के समय से पहले ही आपको दे दूंगी। कालिदास को प्रभावती की बात पर विश्वास नहीं हुआ किन्तु उसके बार-बार विश्वास दिलाने पर कालिदास ने भोजन किया। पिता को भोजन कराकर प्रभावती ने अपनी ससुराल संदेशा भिजवा दिया कि मैं आज यहाँ रहूँगी।

संध्या के समय प्रभावती ने जो भोजन बनाया उसमें कामोत्तेजक पदार्थों का संमिश्रण कर दिया। पिताजी को भोजन करा के प्रभावती ने भी भोजन किया और दोनों अपने-अपने स्थान पर सो गये। प्रभावती ने सोने से पूर्व ऐसे स्थान को देख लिया था जिसमें चले जाने पर वह पिता के हाथ भी न आये और राजा के प्रश्न का उत्तर भी उन्हें मिल जाए।

जब कामान्ध मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है तो उस समय उसे अपने कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नहीं रहता है। चाहे जितना बुद्धिमान मनुष्य हो परन्तु कामान्ध होने पर

उसे केवल स्त्री की ही धुन सवार रहती है। चाहे फिर वह बहिन, बेटी ही क्यों न हो या पशु जाती की ही क्यों न हो ?

रात के समय उन कामोत्तेजक पदार्थों ने अपना प्रभाव बतलाया। कालिदास काम-पीड़ा से मुक्ति पाने की अभिलाषा से प्रभावती के निकट पहुंचे और सहवास के उपाय करने लगे। प्रभावती ने कालिदास को ऐसा करते देख कहा—पिताजी सावधान रहिये। क्या आप अपनी बेटी पर ही ऐसा अत्याचार करने के लिए तत्पर हुए हैं ? परन्तु उस समय तो कालिदास पर काम का भूत सवार था अतः उस समय उन्हें यह चिन्ता क्यों कर होती कि यह मेरी बेटी है ? प्रभावती की बात सुनकर बोले—बस ! चुप रह, अन्यथा तेरे जीवन का खैर नहीं है।

प्रभावती समझ गई कि अब ये अपने वश में नहीं हैं। इस समय इनका विवेक लुप्त हो चुका है। अतएव बोली—पिताजी यदि आपकी ऐसी ही इच्छा है तो कम-से-कम दीपक तो बुझा दीजिए। क्या उसके रहते हुए आप अपनी बेटी के साथ और मैं अपने पिता के साथ भोग भोग सकूंगी ?

प्रभावती की बात सुन कालिदास दीपक बुझाने गए कि इतने में प्रभावती पहले से सोचे हुए स्थान में जाकर छिप गई और किवाड़ बन्द कर लिए। कालिदास ने लौटकर प्रभावती को अनेक भय दिखाए, प्रलोभन दिए लेकिन उसने

कहा कि—आप सबेरे चाहे मुझे मार ही डालें परन्तु इस समय तो मैं किवाड़ नहीं खोलूंगी। प्रभावती को प्राप्त करने के लिए कालिदास ने अनेक उपाय किए परन्तु वे उनमें असफल ही रहे।

जब सारी रात इसी प्रकार के उपद्रव करते-करते बीत गई और सवेरा होने आया एवं उत्तेजक पदार्थों का प्रभाव कम हुआ तो कालिदास का विवेक जागा और सोचा कि मैं यह क्या कर रहा हूँ? हाय-हाय! अपनी बेटी से ही व्यभिचार? वह क्या समझेगी और मैं उसको किस प्रकार अपना मुंह दिखलाऊँगा? मेरा कल्याण तो अब मरने में ही है। इस प्रकार विचार कर कालिदास ने अपने प्राणत्याग का संकल्प कर लिया और फांसी लगाकर मरने के लिए तैयार हो गए।

उधर पिता के उत्पातों को शांत और उत्तेजित पदार्थों के असर का समय समाप्त जानकर प्रभावती ने विचार कि अब तो पिताजी की बुद्धि ठिकाने पर आ गई है अतः वह किवाड़ खोलकर बाहर आई तो देखती है कि पिताजी मरने पर आमादा हैं। उसने कहा—पिताजी आप यह क्या कर रहे हैं?

कालिदास—बस, बेटी मुझे क्षमा कर। मैं अपने इस कुकृत्य का परलोक में तो दंड पाऊँगा ही परन्तु इस लोक में भी मुंह दिखाने योग्य नहीं रहा। अतः तू मेरे काम में बाधा न डाल। बुरे विचार लाकर मैं स्वयं भी भ्रष्ट

और तुझे भी भ्रष्ट करना चाहता था। अब तो मैं इस पाप का प्रायश्चित मर कर ही करूंगा।

प्रभावती—पिताजी जरा ठहरिए और मेरी बात सुन लीजिये। आपके मन में जो विकार उत्पन्न हुए और जो कुछ उत्पातादि किए उसमें आपका क्या दोष है? यह तो राजा के प्रश्न का उत्तर मात्र है। प्रश्न का उत्तर देने के लिए ही मैंने आपको ऐसे कामोत्तेजक पदाथ खिलाये थे जिन्होंने आपको ऐसा करने के लिये विवश कर दिया। अब तो आप अच्छी तरह समझ गये होंगे कि काम का सच्चा बाप एकान्त है। यदि कभी मन खराब भी हो जाय तथा स्त्री भी पास हो परन्तु एकान्त में न हो तो वे बुरे विचार कार्य रूप में परिणत न हो सकेंगे। इसलिये प्रश्न का उत्तर देने के पहले ही उसका अनुभव करा दिया है।

कालिदास—यद्यपि उत्तर देने के लिये ही तूने जान-बूझकर मुझे ऐसे उत्तेजक पदार्थ खिलाये, जिससे मैं अपने आपे में नहीं रह सका, तथापि तेरे साथ अन्याय करने के विचारों के लिये तो मुझे प्रायश्चित करना ही चाहिये?

प्रभावती—जब आप परवश थे तो उसका प्रायश्चित क्या होगा? फिर भी आप प्रायश्चित करना ही चाहते हैं तो आपके साथ मैं भी प्रायश्चित करती हूँ कि भविष्य में चाहे पर पुरुष पिता हो या भाई ही हो परन्तु उसके साथ एकान्त में नहीं रहूँगी।

दूसरे दिन राज सभा में कालिदास ने प्रभावती द्वारा

अनुभव कराये गए उत्तर को कह सुनाया, जिसे सुनकर राजा भोज बहुत प्रसन्न हुए।

सारांश यह कि काम विकार को कार्य रूप में परिणत कराने का अवसर तभी प्राप्त होता है जब स्त्री-पुरुष एकांत में हों। अतएव इससे बचने के लिए ही स्त्री-पुरुष का एकांत स्थान में रहना त्याज्य माना गया है।

मल्लिका का उत्तर सुनकर रानी बोली कि–तेरा कहना ठीक है। वास्तव में मैंने पति प्रेम के आवेश में कार्य के औचित्य पर ध्यान नहीं दिया। लेकिन अब मैं भी नहीं जाती हूँ। जो कुछ होगा वह अच्छा ही होगा।

६ . कर्तव्योन्मुख राजा का राज्य-शासन

महाराज हरिश्चन्द्र आज सूर्योदय से पहले ही जाग गए ।

धर्मात्मा मनुष्य सूर्योदय से पहले ही उठकर परमात्मा के ध्यान में लग जाते हैं । वे आलसियों की तरह सूर्योदय होने के बाद तक बिछौनों में नहीं पड़े रहते हैं । सूर्योदय होने के पश्चात् उठने से आयुर्वेदिक ग्रंथों में भी कई हानियां बतलाई हैं । रात में देर तक जागना और फिर सूर्योदय के पश्चात् तक सोते रहना प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध है । प्राकृतिक नियमों की अवहेलना करने वाला मनुष्य अपने जीवन, स्वास्थ्य, उत्साह और लाभ की भी अवहेलना करता है और प्राकृतिक नियमानुसार दण्डित होता है ।

महाराज हरिश्चन्द्र को सूर्योदय देखने का यह अवसर आज बहुत दिनों के पश्चात् प्राप्त हुआ था । उनके हृदय में आज आनंद था, उत्साह था, शरीर में स्फूर्ति थी, मन प्रसन्न था कि जिसका अनुभव वे बहुत समय से नहीं कर सके थे । रानी को धन्यवाद देते हुए कहने लगे— मुझे वन के प्राकृतिक दृश्य देखने, सुख-निन्द्रा लेने और प्रातःकाल उठने से जो आनन्द प्राप्त हुआ है, वह सब तेरी कृपा का

फल है । तेरी मांग का अभिप्राय मुझे इन सब आनन्दों से भेंट कराना था । वास्तव में मैं अपने जीवन को विषय-वासना में व्यतीत करके विषपान ही कर रहा था । लेकिन तूने मेरी यह भूल दर्शादी । मैं तेरा उपकार मानता हूँ और इसे अपने ऊपर बहुत बड़ा ऋण समझता हूँ । देवयोग से सोने की पूंछ वाला मृग-शिशु प्राप्त हो जाता तब भी विषयवासना में मुझे वह आनन्द न आता जो अब प्राप्त हो रहा है ।

दैनिक कार्यों से निवृत हो महाराज हरिश्चन्द्र राज-सभा में आकर सिंहासन पर आसीन हो गए। यह देखकर कुछ लोगों को तो आनंद हुआ और कुछ को दुःख। दुःखी तो वे हुए जो राजा की अनुपस्थिति में प्रजा पर मनमाने अत्याचार कर अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहे थे और निरंकुश हो अनेक प्रकार के अनादर करने में भी नहीं हिचकते थे । लेकिन आनंदित वे हुए जो लोग राजा के, राज्य के शुभ-चिन्तक व न्यायप्रिय थे तथा राजकर्मचारियों के अत्याचारों को देख-देखकर दुःखी हो रहे थे । वे तो हर्ष विभोर होकर कहने लगे लगे कि—आज सूर्यवंश का सूर्य पुनः उदित हुआ है ।

कुछ लोगों को आश्चर्य भी हुआ कि जो राजा विशेष समय से महलों के बाहर नहीं निकलते थे, राजकाज की ओर दृष्टि नहीं डालते थे, वे अचानक ठीक समय पर राज-कार्य देखने में कैसे उद्यत हुए ? राजा के स्वभाव में अचानक इस प्रकार के परिवर्तन होने के कारण का लोगों ने

पता लगाया तो मालूम हुआ कि यह सब रानी की कृपा का फल है, जिससे राजा पुनः राजकाज देखने में प्रवृत हुए हैं। इस कृपा के लिए सभी रानी की प्रशंसा करने लगे और आभार मानते हुए अनेकानेक धन्यवाद दिए।

रानी के महल में न जाने के लिए वचन-बद्ध राजा एकाग्रचित होकर राजकाज देखने में लगे रहते थे। अब उनका संपूर्ण समय राज्य प्रबंध देखने, न्याय करने, प्रजा के दुःखों और अभावों को दूर करने, उसे सुख पहुंचाने आदि कार्यों में ही व्यतीत होता था। प्रजा के लिए सदाचार आदि नीति संबंधी और कला-कौशल आदि व्यवसाय संबंधी शिक्षा का उन्होंने ऐसा प्रबंध किया कि जिससे राज्य में अपराधों का नाम ही न रहा था। वे अपराधों का पता लगा कर अपराधियों को शिक्षा देते थे और अपराध के उन कारणों का उन्मूलन ही कर देते जिससे पुनः अपराध न हो सकें। न्याय भी इतनी उत्तमता से करते थे कि किसी भी पक्ष को दुःख नहीं होता था। यही बात मुकदमों आदि की भी थी कि राजा दूध-का-दूध और पानी-का-पानी अलग-अलग कर देते थे। कर्मचारियों द्वारा किसी पर अत्याचार न होने के बारे में बहुत ही सावधानी रखते थे और चोर, डाकू आदि उपद्रवियों से प्रजा की रक्षा करना अपना परम कर्तव्य समझते थे।

महाराज हरिश्चन्द्र के इस प्रकार से राजकाज देखने और न्याय करने से थोड़े ही दिनों में राज्य-व्यवस्था पुनः

सुधर गई । प्रजा सुख-समृद्धि-संपन्न हो गई और कोई दुःखी न रहा । हरिश्चंद्र का यह नीति-धर्ममय राज्य सत्य का राज्य कहलाने लगा और उनकी कीर्ति दिग्दिगन्त में व्याप्त हो गई। इस प्रकार रानी ने अपने त्याग, उद्योग से अपनी मनोकामना भी पूर्ण कर ली और राजा को अपने कर्तव्य पर भी आरूढ़ कर दिया एवं साथ ही अपना और पति का कलंक भी धो डाला ।

७ : इन्द्र द्वारा गुणगान

आज स्वर्ग की सुधर्मा सभा विशेष रूप से सजाई गई थी। चारों ओर पारिजात के फूल लगे हुए थे और सभा मध्य चवर-छत्र आदि से सुशोभित सिंहासन पर इन्द्र बैठे हुए थे। लोकपाल आदि सब देव और देवियाँ यथास्थान बैठे थे तथा आत्मरक्षकादि भृतगण यथास्थान खड़े थे। सभा के मध्य एक मंच बना हुआ था जिस पर गायक-गायिकाएं और नर्तक-नर्तकियाँ सुसज्जित खड़ी थीं।

गायक गायिकाएं आदि इन्द्र की आज्ञा की प्रतीक्षा में थे कि आज किस विषय के गीत गाएं और नृत्य करें। तब इन्द्र ने कहा—अन्य विषयों के गीत आदि तो नित्य ही होते हैं लेकिन आज सत्य के गीत गाओ और उसी के अनुसार नृत्य हो। सत्य के प्रताप से ही हम लोग यह आनन्द भोग रहे हैं। इसलिए आज उसी के गुणगान करके यहाँ उपस्थित देव-देवियों को सत्य का महत्त्व सुनाओ।

त्रैलोक्य में सत्य के बराबर अन्य कोई वस्तु नहीं है। सत्य से ही संसार की स्थिति है। यदि सत्य एक क्षण के लिए भी साथ छोड़ दे तो संसार के कार्य चलना कठिन ही नहीं, किन्तु असंभव हो जायें। कीर्ति प्राप्त करने के लिए

सत्य एक अद्वितीय साधन है। सत्य का पालन किसी के द्वारा भी हो लेकिन उसकी ख्याति पवन की तरह सर्वत्र फैल जाती है। सत्य पालन में किसी प्रकार की आकांक्षा रखी जाएगी तो वह एक प्रकार का व्यापार हो जाएगा।

सत्य का गान करने के लिए आज्ञा पाकर गायकगण आदि बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने गान और नृत्य द्वारा सत्य का जो सजीव दृश्य दिखलाया उससे सारी सभा प्रसन्न हो उठी और गायकों व नृत्यकारों की प्रशंसा करने लगी। नृत्य-गान समाप्त होने पर इन्द्र ने कहा कि—

मेरे प्रिय देवलोक के निवासियों! आप लोगों ने जिस सत्य का नृत्य-गान देखा, सुना और प्रसन्न हुए हैं, वह सत्य जिसके पास रहता है वह सदैव आनंदित रहता है। सत्य सूक्ष्म है अतः उसका बिना आधार के उपयोग नहीं हो सकता और जब तक किसी को प्रयोग में लाते न देखें तब तक सत्य को समझने के लिए आदर्श नहीं मिलता। आप देव-लोक में हैं तब भी सत्य की उस मूर्ति के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर सके जिसके दर्शन का सौभाग्य मृत्युलोक-वासियों को प्राप्त है।

मृत्युलोक में अयोध्या के राजा हरिश्चन्द्र ऐसे सत्यवादी हैं कि मानों साक्षात् सत्य ही हरिश्चंद्र के रूप में हो। हरि-श्चंद्र में सत्य फूलों में सुगंध, तिल में तेल या दूध में घृत की तरह व्याप्त है। हरिश्चंद्र का सत्य मेरूपर्वत की तरह अचल है। जिस प्रकार कोई सूर्य को चन्द्र, च

लोक को अलोक, अलोक को लोक और चेतन्य को जड़ तथा जड़ को चेतन्य बनाने में समर्थ नहीं है, उसी प्रकार हरिश्चन्द्र को सत्य से विचलित करने में भी कोई समर्थ नहीं है। हरिश्चन्द्र का कोई भी कार्य सत्य से खाली नहीं है। सत्य पर ध्रुव के सदृश अटल हैं तथा कोई भी उनको सत्य से विलग करने में समर्थ नहीं हो सकता है।

हरिश्चन्द्र के मृत्युलोक में होने से और हम देवलोक में हैं, इस विचार से आप उन्हें तुच्छ न समझें। धर्म-पुण्योपार्जन के लिए मृत्युलोक ही उपयुक्त है। वहाँ उपार्जित धर्म-पुण्य के प्रताप के कारण ही हम आप इस लोक में आनन्द भोग रहे हैं। जो धर्म-पुण्य मनुष्य शरीर में हो सकते हैं वह इस देव-शरीर में नहीं। जन्म-मरण रहित होने के लिये मनुष्य जन्म ही धारण करना पड़ता है। मनुष्य शरीरधारी जीव बिना देवयोनि प्राप्त किए मोक्ष जा सकता है परन्तु देव शरीरधारी जीव मनुष्य जन्म धारण किये बिना मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते हैं। सत्य पालन में हरिश्चन्द्र अद्वितीय हैं। उनकी बराबरी करने वाला संसार में दूसरा कोई नहीं है।

संसार में मनुष्य विशेषतः दो प्रकार के माने जाते हैं। एक दुर्जन दूसरे सज्जन। सज्जन तो दूसरे की प्रशंसा सुनकर तथा दूसरे को सुखी देखकर सुखी होते हैं और दुःखी देखकर दुःखी होते हैं। वे दुःखी के दुःख दूर करने का उपाय करते हैं एवं कभी किसी को दुःख देने का विचार ही नहीं

करते हैं। दूसरों के दुर्गुणों का ढिंढोरा न पीटकर उसके दुर्गुणों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं और ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदि दुर्गुणों को पास भी नहीं फटकने देते हैं। लेकिन दुर्जनों का स्वभाव सज्जनों के स्वभाव से सर्वथा विपरीत होता है।

विद्वानों ने दुर्जनों की तुलना इन्द्र से करते हुये उन्हें इन्द्र से भी बड़ा बतलाया है। वे कहते हैं कि इन्द्र का शस्त्र वज्र उसके हाथ में रहता है और शरीर पर ही आघात पहुंचा सकता है, लेकिन दुर्जनों का शस्त्र दुर्वचन उनके मुख में रहता है और वह मनुष्य के हृदय पर आघात करता है। वज्र का घाव और पीड़ा मिट सकती है परन्तु दुर्वचन की पीड़ा मिटना कठिन है। इन्द्र की आंखों में जितना तेज है, उतना ही क्रोध दुर्जनों की आंखों में है। इन्द्र दूसरे के सद्-गुण देखता है तो दुर्जन दुर्गुण देखता है। सारांश यह कि दुर्जन एक प्रकार से इन्द्र ही है। लेकिन अन्तर केवल इतना ही है कि इन्द्र सद्गुणों में बड़े हैं और दुर्जन दुर्गुणों से।

एक ही वस्तु प्रकृति की भिन्नता से भिन्न-भिन्न गुण देती है। जो जल सीप में पड़कर मोती बन जाता है, वही यदि सर्प के मुख में गिरे तो विष बन जाएगा। जो बात सज्जनों को सुख देने वाली होती है, वही दुर्जनों को दुःख देने वाली हो जाती है। जो वर्षा वृक्षों को हरा-भरा कर देती है, उसी वर्षा से जवास सुख जाता है। सारांश यह कि अच्छी वस्तु भी विपरीत प्रकृति वाले के लिये बुरी हो जाती है।

इन्द्र द्वारा हरिश्चन्द्र की प्रशंसा सुनकर सारी सभा प्रसन्न हुई और हरिश्चन्द्र के सत्य और उसके साथ-साथ मृत्युलोक और मनुष्य जन्म की सराहना करते हुए सत्य-रहित देवजन्म को धिक्कारने लगी। लेकिन एक देव को हरिश्चन्द्र की यह प्रशंसा अच्छी नहीं लगी। यद्यपि इन्द्र के भय से प्रगट में तो वह कुछ नहीं बोल सका परन्तु मन-मन ही जल उठा कि—ये इन्द्र हैं तो क्या हुआ, लेकिन इनको अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान नहीं है। देवताओं के सन्मुख हाड़-चाम से बने, रोगादि व्याधियों से युक्त मनुष्य की प्रशंसा करना, इनकी कितनी हीनता प्रगट करता है। मैं डरता हूँ अन्यथा इसी समय खड़ा होकर कहता कि क्या हरिश्चन्द्र हम देवताओं से भी बड़ा है जो यहाँ प्रशंसा की जा रही है। लेकिन अब मैं इन्द्र के कथन का प्रतिवाद मुख से न करके कार्य से करूंगा और जिस हरिश्चन्द्र की प्रशंसा की गई है उसको सत्य से पतित कर दिखला दूंगा कि—देखलो अपने उस हरिचन्द्र की सत्यभ्रष्टता, जिसकी प्रशंसा करते हुये आपने देवताओं को भी उससे तुच्छ होने के भाव दर्शाये थे।

दुर्जनों को विशेषतः सद्गुणों से द्वेष होता ही है। इसी से वे दूसरे की कीर्ति सुनकर या सुखी देखकर ईर्ष्याग्नि से जलने लगते हैं। चन्द्रमा को ग्रसने की चिन्ता में डूबे हुए राहु की तरह दुर्जन दूसरे की कीर्ति, सुख और गुण ग्रसने की चिन्ता में रहते हैं तथा अवसर की प्रतीक्षा करते रहते हैं। यदि इन्द्र ने हरिश्चन्द्र की प्रशंसा की तो इससे उस देव

की कोई हानि न थी, परन्तु दुर्जन के स्वाभावानुसार वह अकारण ही हरिश्चन्द्र के साथ-साथ सत्य और इंद्र से भी द्वेष करने लगा।

संसार में ईर्ष्या से बढ़कर दूसरा दुर्गुण नहीं है। यद्यपि ईर्ष्या अग्नि नहीं है, फिर भी जिसमें होती है, उसको निरंतर जलाती रहती है। ईर्ष्या करने वाले का मन किसी भी अवस्था में प्रसन्न नहीं रहता है। वह इस विचार से मन-ही-मन जला करता है कि यह सुख या यश वैभवादि दूसरे को क्यों प्राप्त है ?

क्रोध और ईर्ष्या से भरा हुआ देव घर आया। उसकी आकृति देखकर उसकी देवियाँ डर गई। उन्होंने डरते-डरते उससे पूछा कि—आज आपका मन क्यों मलिन है ? आंखें क्यों लाल हैं और शरीर क्यों कांप रहा है ? जान पड़ता है कि इस समय आप किसी पर क्रोधित हो रहे हैं। क्या सभा में इद्र ने कोई अपना किया है। किसी ने कुछ ऐसी बात कह दी है जिससे आपको रोष आ गया है या अन्य कोई कारण है ?

देव—क्या तुम सभा में नहीं थीं ?

देवियाँ—वहीं थे और अभी वहीं से चली आ रही हैं।

देव—फिर भी तुम्हें मालूम नहीं कि वहाँ क्या हुआ ?

देवियाँ—मालूम क्यों नहीं। वहाँ सत्य के विषय में नृत्य-गान हुआ था और उसके पश्चात इन्द्र ने राजा हरिश्चंद्र के सत्य की महिमा बतलाई थी।

देव—क्या यह अपमान कम है। हम देव शरीर-धारियों के सन्मुख ही हमारी सभा में, हमारा ही राजा मृत्युलोक के मनुष्य की प्रशंसा करे और हम सुनते रहें। इससे ज्यादा अपमान और क्या होगा? क्या सत्य सिर्फ मृत्युलोक में है और वह भी वहाँ के मनुष्यों में ही है? यह कितनी अनुचित बात है कि मृत्युलोक के मनुष्यों के सत्य की प्रशंसा करके और हरिश्चंद्र को संसार में सबसे बड़ा सत्य-धारी बतलाया जाए तथा देवलोक तथा देवलोक के गौरव-सम्मान की अवहेलना की जाय? यद्यपि वहाँ बैठे सब देव-देवियाँ इन्द्र द्वारा की गई प्रशंसा सुनते रहे और प्रसन्न होते रहे लेकिन उनकी समझ में यह बात नहीं आई कि इस प्रकार हम देवों का और देवलोक का कितना अपमान हो रहा है। यह तो योगायोग की बात थी जो मैं वहीं उपस्थित था और जिसे इस अपमान का ध्यान हुआ। इन्द्र ने आज देवताओं का घोर अपमान किया है। लेकिन मैंने यह विचार कर लिया है कि हरिश्चंद्र को सत्य से पतित करके इन्द्र द्वारा की गई प्रशंसा का प्रतिवाद करूँ और देवों पर लगे हुए कलंक को मिटाकर इन्द्र को उनकी भूल दर्शादूं।

क्रोधावेश में अच्छे-बुरे का ध्यान नहीं रहता है। क्रोधी की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। इसी से वह न कहने योग्य बात कह डालता है और न करने योग्य कार्य कर डालता है। इन्हीं कारणों से ज्ञानी पुरुष क्रोध के त्याग का उपदेश देकर कहते हैं कि क्रोध से सदा बचो।

यद्यपि इन्द्र इस देव के स्वामी हैं, इसलिए वे उसके पूज्य हैं परन्तु क्रोधवश होकर उसने इन्द्र के लिए भी असभ्य शब्दों का प्रयोग कर डाला। क्रोधवश इस समय उसको अपने बोलने के औचित्यानौचित्य का भी ध्यान नहीं रहा।

देवियाँ उस देव के स्वभाव से परिचित थीं। वे विचारने लगीं कि स्वामी को दूसरे के गुण और प्रशंसा से द्वेष है। इनका यह रोग असाध्य है। इसलिए इसके बारे में इन की इच्छा के विरुद्ध कुछ भी कहना क्रोधाग्नि में आहुति डालना है। अतः उन्होंने देव से फिर पूछा कि—आप हरिश्चन्द्र को सत्य—भ्रष्ट किस प्रकार करेंगे।

इसका भी मैं कुछ-न-कुछ उपाय विचार ही लूंगा, लेकिन पहले यह जान लेना चाहता हूँ कि तुम लोगों को मैं जो आज्ञा दूंगा, उसका पालन करोगी या नहीं? देव ने उन देवियों से पूछा। मैं तुम्हारी भी कसौटी करूँगा कि तुम कहाँ तक पति-आज्ञा का पालन करती हो। अब तो मुझे उसी समय शाँति मिलेगी जब मैं हरिश्चंद्र को सत्य से विचलित करके इन्द्र से कह सकूं कि तुमने हमारे सामने जिस मनुष्य की प्रशंसा की थी, उसकी सत्यभ्रष्टता देख लो और प्रशंसा करने का पश्चात्ताप करो।

देव की बात सुनकर देवियाँ आपस में मंत्रणा करने लगीं कि पति के प्रश्न का क्या उत्तर दिया जाय। उनमें से पहली बोली—यद्यपि जिस कार्य के लिए पति-आज्ञा देना चाहते हैं, वह है तो अनुचित, तथापि पति की आज्ञा मानना

हमारा कर्तव्य है ।

दूसरी—इन्द्र कह ही चुके हैं कि राजा हरिश्चंद्र को सत्य से विचलित करने में कोई समर्थ नहीं है । इस पर भी पति हरिश्चंद्र को सत्य से विचलित करने का विचार कर रहे हैं जो उचित तो नहीं है, लेकिन यह बात कहकर कौन उनका कोपभाजन बने । इसलिए हमें तो अपने कर्तव्य-पति आज्ञा पालन–पर दृढ़ रहना ही उचित है । अधिक-से-अधिक वे हरिश्चंद्र का सत्य डिगाने में हमारी सहायता ही तो लेंगे।

तीसरी—लेकिन पति ने कहीं हम लोगों को छल द्वारा हरिश्चंद्र का सत्य भंग करने की आज्ञा दी तो ?

चौथी—हम लोगों को इससे क्या मतलब ? हम तो पति की आज्ञा का पालन करेंगी । इन्द्र के कथन पर विश्वास रखो और सम्भव है कि पति के इस उपाय से हरिश्चंद्र का सत्य और अधिक ख्याति प्राप्त करे । हमारी तो स्वयं यह इच्छा ही नहीं है कि हरिश्चंद्र को सत्य से विचलित करने में पति को सहयोग दें, लेकिन जब ऐसा करने के लिए विवश की जाती हैं तो चारा ही क्या है ? शास्त्रकारों ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि यदि विवश होकर किसी अनुचित कार्य में प्रवृत्त होना पड़े तो अपना हृदय निर्मल रखो और उस दशा में अपराध से बहुत कुछ बच जाते हैं । अतः अपना कोई अपराध न होगा, बल्कि हम तो पति-आज्ञा पालन का लाभ प्राप्त करेंगी और उसके साथ-। हरिश्चंद्र के दर्शनों का भी लाभ प्राप्त करेंगी ।

इस प्रकार परस्पर में विचार करके उन देवियों ने उत्तर दिया कि--हम तो आपकी आज्ञाकारिणी ही हैं, आपकी आज्ञा का पालन करना हमारा कर्तव्य है। अतः आप हमें जो आज्ञा देंगे, उसका पालन करेंगे।

देवियों से इस प्रकार का उत्तर सुनकर देव बहुत ही प्रसन्न हुआ कि कार्य के विचार में ही यह शुभ लक्षण दीख पड़े। तो निश्चय ही मैं हरिश्चंद्र को सत्य से विचलित कर दूंगा। जब तक मैं हरिश्चंद्र को सत्य से विचलित न कर दूं तब तक मेरे देवजन्म को, मेरे देवलोक में रहने को और मेरे साहस-उद्योग को धिक्कार है।

हमारा कर्तव्य है ।

दूसरी—इन्द्र कह ही चुके हैं कि राजा हरिश्चंद्र को सत्य से विचलित करने में कोई समर्थ नहीं है । इस पर भी पति हरिश्चंद्र को सत्य से विचलित करने का विचार कर रहे हैं जो उचित तो नहीं है, लेकिन यह बात कहकर कौन उनका कोपभाजन बने । इसलिए हमें तो अपने कर्तव्य-पति आज्ञा पालन—पर दृढ़ रहना ही उचित है । अधिक-से-अधिक वे हरिश्चंद्र का सत्य डिगाने में हमारी सहायता ही तो लेंगे।

तीसरी—लेकिन पति ने कहीं हम लोगों को छल द्वारा हरिश्चंद्र का सत्य भंग करने की आज्ञा दी तो ?

चौथी—हम लोगों को इससे क्या मतलब ? हम तो पति की आज्ञा का पालन करेंगी । इन्द्र के कथन पर विश्वास रखो और सम्भव है कि पति के इस उपाय से हरिश्चंद्र का सत्य और अधिक ख्याति प्राप्त करे । हमारी तो स्वयं यह इच्छा ही नहीं है कि हरिश्चंद्र को सत्य से विचलित करने में पति को सहयोग दें, लेकिन जब ऐसा करने के लिए विवश की जाती हैं तो चारा ही क्या है ? शास्त्रकारों ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि यदि विवश होकर किसी अनुचित कार्य में प्रवृत्त होना पड़े तो अपना हृदय निर्मल रखो और उस दशा में अपराध से बहुत कुछ बच जाते हैं । अतः अपना कोई अपराध न होगा, बल्कि हम तो पति-आज्ञा पालन का लाभ प्राप्त करेंगी और उसके साथ-ही हरिश्चंद्र के दर्शनों का भी लाभ प्राप्त करेंगी ।

इस प्रकार परस्पर में विचार करके उन देवियों ने उत्तर दिया कि--हम तो आपकी आज्ञाकारिणी ही हैं, आपकी आज्ञा का पालन करना हमारा कर्तव्य है। अतः आप हमें जो आज्ञा देंगे, उसका पालन करेंगे।

देवियों से इस प्रकार का उत्तर सुनकर देव बहुत ही प्रसन्न हुआ कि कार्य के विचार में ही यह शुभ लक्षण दीख पड़े। तो निश्चय ही मैं हरिश्चंद्र को सत्य से विचलित कर दूंगा। जब तक मैं हरिश्चंद्र को सत्य से विचलित न कर दूं तब तक मेरे देवजन्म को, मेरे देवलोक में रहने को और मेरे साहस-उद्योग को धिक्कार है।

८. षडयंत्र का बीजारोपण

देवियों की बात सुनकर देव प्रसन्न तो हुआ, लेकिन उसके साथ ही वह दूसरी चिन्ता में पड़ गया कि हरिश्चंद्र का सत्य भंग करने के लिए किस उपाय को काम में लिया जाय।

विचारवान मनुष्य को अपनी-अपनी वृत्तियों के अनुसार कोई-न-कोई उपाय सूझ ही जाता है। दुर्जन मनुष्य जब किसी का बुरा करना चाहते हैं, तब किसी-न-किसी षड़यंत्र का सहारा लेते हैं। वे उपाय उचित हैं या अनुचित, प्रशंसनीय हैं या निंदनीय, इस बात पर विचार नहीं करते।

उन्हें तो केवल दूसरे की हानि करना अभीष्ट होता है। ऐसे मनुष्यों के बारे में एक कवि ने कहा है—

घातयितु मेव नीचः परकार्यं वेति न प्रसाधयितुम्।
पातयितुमस्ति शक्तिर्वायोर्वृक्षं न चोन्नमि तुम्॥

नीच मनुष्य पराये काम को बिगाड़ना जानता है, परन्तु बनाना नहीं जानता है। वायु वृक्ष को उखाड़ सकती है, परन्तु जमा नहीं सकती है।

देव ने इस कार्य के लिए विश्वामित्र को अपना अस्त्र बनाना उपयुक्त समझा। उसने विचार किया कि यदि मैं

प्रत्यक्ष में हरिश्चंद्र से कोई छल करूँगा तो संभव है कि वह सावधान हो जाए। इसलिए मैं तो अप्रगट रहूँगा और विश्वामित्र को हरिश्चंद्र से भिड़ा दूंगा। विश्वामित्र स्वभावतः क्रोधी हैं और हरिश्चंद्र के प्रति सिर्फ एक बार उनके क्रोध को भड़काने की देर है कि वे फिर किसी के वश के नहीं हैं। हरिश्चंद्र की ख्याति तो सत्य के कारण ही है अतः बिना उसका भंग किए अपमान नहीं हो सकेगा। परंतु विश्वामित्र को कुपित कैसे किया जाय? इसके लिए देव ने विचारा कि देवियों द्वारा विश्वामित्र के आश्रम को नष्ट कराया जाय। इससे वे अवश्य ही उन पर क्रुद्ध होकर वे उन्हें जला तो सकेंगे नहीं, केवल शारीरिक दंड देंगे। उस शारीरिक दण्ड को भोगते समय देवियाँ हरिश्चंद्र की शरण में जाएँगी ही और वह अवश्य ही इन देवियों को कष्ट-मुक्त करेगा। ऐसा करने से निश्चय ही विश्वामित्र की क्रोधाग्नि भड़क उठेगी और इस प्रकार मेरा षड़यंत्र सफल हो जाएगा।

इस प्रकार अपनी योजना के बारे में विचार कर देव ने उन देवियों को आज्ञा दी कि—तुम विश्वामित्र के आश्रम में जाकर वहाँ उपवन को नष्ट-भ्रष्ट कर डालो। विश्वामित्र के क्रोध से तुम किंचित् भी भयभीत न होना और वे जो कुछ भी दंड दें उसको सहन करती हुई हरिश्चंद्र की शरण लेना। ऐसा करने पर वह तुम्हें उस कष्ट से दूर कर देगा और फिर तुम चली आना। बस तुम्हारी इतनी-सी सहायता से मैं अपने कार्य में सफलता प्राप्त कर लूंगा।

देव की आज्ञा पाकर देवांगनाएँ विश्वामित्र के आश्रम में आईं और क्रीडा करती हुई उपवन को नष्ट-भ्रष्ट करने लगीं। विश्वामित्र के शिष्यों ने उन्हें रोका, समझाया और विश्वामित्र का भय भी दिखलाया, परन्तु वे न मानीं, बल्कि उन शिष्यों की हंसी उड़ाने लगीं। कोई उन्हें डाँटने लगी कि-हमें प्रत्येक स्थान पर क्रीड़ा करने का अधिकार है, तुम रोकने वाले कौन होते हो? शिष्यों का जब उन देवांगनाओं पर कोई वश नहीं चला तो वे चिल्लाते हुए समाधिस्थ विश्वामित्र के समीप पहुंचे। शिष्यों का कोलाहल सुनकर विश्वामित्र की आंख खुली और हल्ला मचाने का कारण पूछा तो शिष्यों ने बतलाया कि कुछ देवांगनाएँ उपवन को नष्ट कर रही हैं और रोकने पर नहीं मानती हैं, बल्कि हंसी उड़ाते हुए अपने आपको वैसा करने की अधिकारिणी बतलाती हैं। उन्हें आपका किंचित् भी भय नहीं है।

शिष्यों की बात सुनते ही विश्वामित्र क्रोध से लाल हो गए। वे उपवन में आकर देखते हैं कि देवांगनाएं निर्भीकतापूर्वक किसी वृक्ष के पत्ते तोड़ रही हैं तो किसी के फल-फूल, डाली आदि। यह सब हाल देख, उन्होंने क्रोधित होकर देवांगनाओं से पूछा कि—तुम मेरे उपवन को क्यों उजाड़ रही हो? जानती नहीं कि यह आश्रम विश्वामित्र का है, जिसके क्रोध से आज सारा संसार भयभीत हो रहा है। अब या तो तुम अपने इस कृत्य के लिए मुझसे क्षमा मांगो या फिर यहां से भाग जाओ, अन्यथा मैं तुम्हें दंड दूंगा।

विश्वामित्र की लाल-लाल-आंखें देखकर और बातें सुनकर देवांगनाएं किंचित् मात्र भी भयभीत न हुईं और उनकी मजाक उड़ाने लगीं। एक बोली कि—ये साधु बने हुए हैं जो स्त्रियों को क्रीड़ा करते हुए रोकते हैं। दूसरी बोली—तुम तो साधु हो, जाकर अपना काम करो। हमारी जो इच्छा होगी, करेंगे, देखें तुम हमें कैसे रोक सकते हो?

उनका यह व्यवहार, बोलचाल विश्वामित्र की क्रोधाग्नि में आहुति का काम कर गया। विश्वामित्र का क्रोध अब सीमा पर पहुंच गया था, किन्तु ये स्त्रियाँ थीं और देवांगनाएँ थी अतः विश्वामित्र इन्हें भस्म करने में असमर्थ थे। विवश हो विश्वामित्र ने केवल यह श्राप देकर संतोष किया कि हे दुष्टाओं! तुमने जिन हाथों से मेरे उपवन को नष्ट किया है, लतादि को मरोड़ा है, वे तुम्हारे हाथ मेरे तप के प्रभाव से उन्हीं लताओं से बंध जाएं।

तप की शक्ति महान् होती है। इसको न मानने की किसी में भी शक्ति नहीं है। किन्तु जहाँ विवेकी मनुष्य का तप संसार घटाने में सहायक होता है, वहाँ अविवेकी कि तपस्या संसार बढ़ाने का ही हेतु हो जाती है। तप की शक्ति के आधिन देवता भी हैं। जिसमें तप की शक्ति है उसका वर-दान या श्राप मिथ्या नहीं होता।

यद्यपि देवांगना होने के कारण वे देवियाँ शक्ति-संपन्न थीं परन्तु तपबल के आगे उनकी एक भी न चली। श्रा के प्रभाव से उनके हाथ बंध गए और वे तड़फने लग

उन्होंने छूटने के अनेक उपाय किये परन्तु वे सफल न हो सकीं। देवांगनाओं को बंधी हुई देखकर विश्वामित्र ने कहा कि—अब समझ लिया कि मैं कौन हूँ, मुझ में क्या शक्ति है और मैं क्या कर सकता हूँ? जब मैंने समझाया था तब तो मेरी एक न मानी, अब भुगतो अपने किये का फल और युग-युग तक बंधी रहो। मैं तुमको और भी कठिन दंड दे सकता था, यहाँ तक कि तुम्हें भस्म कर सकता था परन्तु मैंने तुम पर स्त्री होने के कारण दया की है और इतना ही दंड दिया है।

इस प्रकार आत्म-प्रशंसा करके विश्वामित्र अपने समाधिस्थल की ओर चले गए।

देव ने जब यह देखा कि विश्वामित्र ने देवियों को बांध दिया है, तब वह एक अनुपस्थित सेवक का रूप बनाकर हरिश्चंद्र के भृत्यों में सम्मिलित हो गया। उसका ऐसा करने का अभिप्राय यह था कि किसी भी प्रकार से हरिश्चंद्र को इस ओर लाकर इन देवियों को छुड़वाऊँ और जिससे विश्वामित्र का सब क्रोध हरिश्चंद्र पर पलट जाय।

नीतिज्ञ राजा लोग अपने नित्य के राजकार्य से निवृत होकर इस अभिप्राय से बाहर घूमने निकला करते थे कि दुःखी मनुष्य अपना दुःख राजा को सुना सकें। प्रजा जो राजा को पितृवत समझती है, राजा के दर्शन कर प्रसन्न हो जाए और राजा भी प्रजा को पुत्र की तरह देख ले, साथ ही नगर, देश, फसल, स्वच्छता आदि का भी निरीक्षण हो

जाए और स्वयं का स्वास्थ्य भी अच्छा रहे ।

वे राजा किसी धीमी सवारी या पैदल इस प्रकार आवाज दिलवाते हुए चलते थे कि राजा के आने की सब को खबर हो जाए और जिसे जो प्रार्थना करनी हो वह कर सके तथा राजा ध्यानपूर्वक प्रार्थना को सुनकर उसका दुःख मिटाने का उपाय कर सके। लेकिन आज के युग में यह सब बातें तो सपने जैसी हो गई हैं ।

नित्य की तरह राजा हरिश्चंद्र राजकार्य से निवृत होकर घूमने निकले । नगर में होते हुए वे वन में आ पहुंचे। वन में उस छद्मवेशी सेवक के कहने से वे विश्वामित्र के आश्रम की ओर भी चले गए । जब आश्रम में बंधी हुई देवांगनाओं ने देखा कि कोई चंवर–छत्रधारी इधर आ रहा है तो अनुमान लगाया कि हो-न-हो राजा हरिश्चंद्र ही इस ओर आ रहे हैं। हमारे बड़े भाग्य है कि इस बहाने हमें राजा हरिश्चंद्र के दर्शनों का लाभ मिलेगा । लेकिन संभव है कि हमारे चुप रहने से राजा इस ओर ध्यान न दे सकें और हम बंधी हुई ही रह जाएँ और दर्शन भी न हों । इसलिए उन्होंने ऐसा विचार कर एक साथ चिल्लाने का निश्चय किया और जिससे हमारी पुकार सुनकर राजा इस ओर आए ।

इस प्रकार विचार करके देवांगनाओं ने करुणोत्पादक चीत्कार प्रारम्भ किया। उनकी दुःखभरी पुकार सुनकर हरिश्चन्द्र ने सेवकों को आज्ञा दी, जाकर पता लगाओ कि ऋषि-आश्रम के पास यह कौन रो रहा है ? सेवकगण आज्ञा

पाकर आश्रम में गये और वापस लौटकर बतलाया कि आश्रम में चार कोमलांगी स्त्रियों को किसी ने बड़ी निर्दयतापूर्वक वृक्षों से बांध रखा है। उन्हीं की यह पुकार है और वे आपसे मुक्त कर देने के लिये प्रार्थना कर रही है।

इस बात को सुनकर राजा के हृदय में उनके प्रति दया उत्पन्न हुई। वे तत्काल आश्रम में आए और उन देवांगनाओं से पूछा कि—तुमको किसने और क्यों बांध रखा है ?

देवांगनाएं बोली—हम इस उपवन में क्रीड़ा करती हुई फूल आदि तोड़ रहीं थी, अतः विश्वामित्र ऋषि ने क्रोधित होकर अपने तपोबल से हमें इन वृक्षों से बांध दिया है।

हरिश्चन्द्र—तुमको ऋषि-आश्रम में आकर विघ्न नहीं करना चाहिए था। क्रीड़ा करने के लिए अन्य स्थानों की कमी नहीं है। तुमने अपराध तो अवश्य किया है लेकिन ऋषि ने जो दंड दिया है वह अपराध से बहुत अधिक है। इसके सिवाय मुनि को दंड देना भी उचित नहीं था और दंड देना उनके अधिकार से परे की बात है। दंड देना राजा का काम है, मुनि का काम दंड देना नहीं है।

देवियाँ—हम आपसे प्रार्थना करती हैं कि आप हमें बंधनमुक्त कर दीजिये।

हरिश्चन्द्र—मैं तुम्हें छोड़ देता हूँ परन्तु भविष्य में कभी भी किसी ऋषि-आश्रम में उत्पात मचाकर विघ्न मत करना।

देवियाँ—अब कभी ऐसा नहीं करेंगी।

एक क्रोधी तपस्वी के तपोबल की अपेक्षा एक गृहस्थ सत्यवादी का सत्यबल कहीं अधिक है। मनुष्य तपस्या चाहे जितना करता हो परन्तु जो क्रोध का दमन न कर सके, उसकी अपेक्षा वह गृहस्थ प्रशंसनीय है जो सत्य-परायण है।

हरिश्चन्द्र ने उन देवांगनाओं को खोलने के लिए जैसे ही हाथ लगाया कि वे बंधन-मुक्त हो गईं और राजा के प्रति कृतज्ञता प्रगट करने लगीं तथा आज्ञा पाकर विमान द्वारा आकाश में उड़ गईं व वहाँ से पुष्पवृष्टि करके आपस में कहने लगीं—

"हरिश्चन्द्र के चेहरे पर कैसा तेज झलक रहा है।"

यह सत्य का ही तेज है। उनके हाथों में सत्य की कैसी विचित्र शक्ति है कि जिन बंधनों से छूटने में हम लोग देवांगना होते हुए भी हार गई थीं, वे ही बंधन हरिश्चन्द्र का हाथ लगते ही टूट गए। हरिश्चन्द्र की कृपा से ही हम लोग छूट सके हैं, अन्यथा न मालूम कब तक बंधे रहना पड़ता। उसके हाथों में कैसी असाधारण शक्ति है कि बंधन खुलने में क्षणमात्र की भी देर नहीं लगी।

जिस हरिश्चन्द्र में सत्य का इतना तेज है जो पर दु:ख भंजक है, उसके सत्य को डिगाने में पति कदापि समर्थ नहीं हो सकते हैं। यह उनकी व्यर्थ चेष्टा है।

"यद्यपि तुम्हारा यह कहना ठीक है परन्तु पति-आज्ञा का पालन का ही यह एक फल है कि हम लोगों को सत्य-मूर्ति हरिश्चन्द्र के दर्शन भी हो गए और साथ ही साथ स-

श्रौर भी दृढ़ विश्वास हो गया। हमें तो पति की श्राज्ञा मानने से लाभ-ही-लाभ हुश्रा है। पति-श्राज्ञा पालन का कैसा प्रत्यक्ष फल मिला।"

इस प्रकार बातें करती हुई वे देवांगनाएं अपने घर श्राईं। देव भी यह विचार कर वापस घर लौट आया कि हरिश्चन्द्र पर विश्वामित्र को क्रोध करने का कारण पैदा कर दिया, अब देखें श्रागे क्या होता है। आशा तो है कि षड-यंत्र पूर्णरूपेण सफल होगा।

उधर हरिश्चन्द्र भी अपने महलों में लौट श्राए। उनकी दृष्टि में देवांगनाश्रों के बंधन मुक्ति का कार्य कोई महत्त्व नहीं रखता था, इसलिए उन्हें स्मरण भी न रहा।

९ . जब राजर्षि कुपित हुए

देवांगनाओं को बांधकर विश्वामित्र अपने समाधिस्थल पर लौट आए। उन्हें इस बात का गर्व था कि मैंने अपने तपोबल से देवांगनाओं को बांध दिया और अब उन्हें मुक्त करने की किसी में भी शक्ति नहीं है। मुक्त करूंगा तो मैं ही करूंगा। इनके पति के अनुनय विनय करने पर ही मैं अपना क्रोध जताता हुआ इन्हें बंधन मुक्त करूंगा।

लेकिन उन्हें यह मालूम नहीं था कि दूसरे को दुःख देने वाला स्वयं भी दुःख में पड़ता है। किसी दूसरे को अपमानित करने के लिए पहले स्वयं को निर्लज बनना पड़ता है। परन्तु दूसरे को सुखी करने में, संमानित करने में और दूसरों की रक्षा करने में स्वयं को भी सुख अनुभव होता है। इसीलिए महापुरुष उपदेश देते हैं कि किसी की आत्मा को कष्ट न पहुंचा कर उन्हें सुखी बनाओगे तो तुम स्वयं भी सुखी होगे।

विश्वामित्र समाधि में तो बैठे किन्तु उनका चित्त स्थिर न हो सका। उन्हें रह-रहकर सिर्फ उन देवांगनाओं का व्यवहार, अपना क्रोध और अपने तपोबल से उनका बांधा जाना आदि बातें याद हो उठती थीं। समाधिस्थ न हो सकने से वे

समाधिस्थल से बाहर आये। इतने में ही शिष्यों ने आकर बतलाया कि देवांगनाएं तो छूटकर चली गई हैं। शिष्यों की बात सुनकर विश्वामित्र को बहुत आश्चर्य हुआ। वे विचारने लगे कि क्या मेरे तप में इतनी भी शक्ति नहीं रही? यदि ऐसा होता तो वे बंधती ही क्यों? उन्होंने शिष्यों से पूछा कि—वे आप ही छूटी या किसी ने उन्हें छुड़ा दिया।

शिष्य बोले कि—आपके लौटने के कुछ समय बाद ही राजा हरिश्चन्द्र आए थे और देवांगनाओं का करुण क्रन्दन सुनकर वे उनके निकट आए और उनको बंधन मुक्त कर दिया।

शिष्यों की यह बात सुनकर विश्वामित्र अपने आपे में न रह सके और बोले—शायद हरिश्चन्द्र को मेरा, मेरे तपोबल का और मेरे क्रोध का कुछ भी भय नहीं है। क्या इस पृथ्वी पर है कोई ऐसा मनुष्य जो मेरी उपेक्षा कर सके? क्या हरिश्चन्द्र को यह मालूम नहीं कि बड़े-बड़े ऋषियों को मुझ से किस प्रकार हार माननी पड़ी। हरिश्चन्द्र! अपने राजमद में, अपने सत्य के अहंकार में और अपनी सहृदयता दिखलाने के लिए तूने देवांगनाओं को छोड़ तो दिया है परन्तु देख अब मैं तुझे कैसा दण्ड देता हूँ कि तेरा सब घमण्ड मिट जाय और तू समझ सके कि तपस्वियों के और विशेषतः विश्वामित्र के अपराधियों को छोड़ने का क्या फल होता है? यदि तुझे इस कार्य का उचित दंड न दिया तो मेरे विश्वामित्र कहलाने को, मेरे तप को और मेरे क्रोध को धिक्कार है।

विश्वामित्र को हरिश्चन्द्र पर क्रोध होने के कारण रात-भर नींद नहीं आई। वे विचारते रहे कि कब सूरज निकले और कब हरिश्चन्द्र को उसी की सभा में उसके कृत्य का दंड दूं।

क्रोध और क्षमा, दया और हिंसा में कितना अन्तर है, यह विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र की दशा से स्पष्ट है। देवांगनाओं को बांधकर भी विश्वामित्र को शांति प्राप्त न हुई, लेकिन राजा हरिश्चन्द्र विश्वामित्र के भय से निश्चिंत होकर बड़े ही सुखपूर्वक सोए।

नियमानुसार राजा हरिश्चन्द्र सूर्योदय से पहले ही उठकर अपने नित्यकर्म से निवृत्त हो गए एवं सूर्योदय के साथ-ही-साथ न्यायासन पर आकर विराज गये और न्याय कार्य में दत-चित्त हुए। वे एक-एक न्याय कार्य को इस प्रकार निबटाते जाते थे कि वादी और प्रतिवादी दोनों ही प्रसन्न हो उठते थे और अपनी हानि पर भी दोनों में से किसी को कुछ भी दुःख न हुता था।

न्याय और योग के कार्य में बहुत कुछ समानता है जिस प्रकार योगी आत्म-चिन्तन के समय अन्य सब बातों को भूल जाता है, उसी प्रकार न्याय करने वाला भी न्याय कार्य के आगे अन्य बातों को भूलकर अपने मन को न्याय में लगा देता है। जैसे योगी संसार के प्राणिमात्र को आत्मवत् समझते हैं वैसे ही न्याय करने वाला भी सब को आत्मवत् समझता है और दूसरे के सुख-दुःख का अनुमान अपने

आत्मा में करके न्याय कार्य करता है। ऐसा करने वाला ही न्याय नदी के पार उतर सकता है, अन्यथा वह बीच में ही रह जाता है और उनका न्याय अन्याय कहलाता है।

महाराज हरिश्चंद्र का यह नियम था कि नित्य का कार्य नित्य ही कर डाला जाय। कार्य को बाकी रखकर प्रजा को पुनः आने-जाने का कष्ट देना उन्हें अनुचित मालूम होता था। लेकिन आज के न्यायकर्ता प्रायः न्याय कार्य को विशेष समय तक पटक रखते हैं। परन्तु ऐसा करना न्याय प्रणाली के विरुद्ध है।

न्याय के जितने भी मामले थे, उन सब का महाराज हरिश्चन्द्र ने फैसला कर दिया था। वे न्यायासन से उठने वाले ही थे कि द्वारपाल ने आकर निवेदन किया कि विश्वामित्र ऋषि पधारे हैं और आप से न्याय चाहते हैं।

इस समाचार को सुनकर राजा आश्चर्य में पड़ गये कि विश्वामित्र तो ऋषि हैं, वे न्यायालय में किस कारण आये हैं ? यदि मेरे योग्य कोई कार्य था तो मुझे ही संदेशा देकर बुलवा लेना चाहिए था, परन्तु वे स्वयं आए, यह क्यों ? ऋषि, मुनि को न्यायालय की शरण लेना पड़े, यह कदापि उचित नहीं है और फिर विश्वामित्र जैसे तपस्वी न्यायालय में जाएं, यह तो और भी आश्चर्य की बात है। राजा ने द्वारपाल को उत्तर दिया कि—उन्हें सम्मान सहित ले आओ।

जिस प्रकार सर्प को देखकर दूसरे लोग भयभीत हो

आते हैं परन्तु सर्प का मंत्र जानने वाला उससे भयभीत नहीं होता है। उस प्रकार द्वारपाल की बात सुनकर सभा के अन्य लोग तो विश्वामित्र के आने से सशंक हो उठे परन्तु हरिश्चन्द्र को किसी प्रकार की शंका या भय नहीं हुआ और निःशंक थे।

१० . दंड देने का अधिकार राजा को है

विश्वामित्र के न्यायालय में आते ही महाराज हरिश्चन्द्र, सभासदों सहित खड़े हो गए और उनका सत्कार करने के लिए सिंहासन से उतरने लगे ।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि सच्चा राजा किसी सम्प्रदाय का पक्षपाती नहीं होता किन्तु उसी धर्म का अनुयायी होता है जो सत्य होता है, सत्य से अनुप्राणित होता है । राजा सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखता है और समझता है कि मुझ पर तो शांति-रक्षा का भार है । इसलिए सभी धर्मों को समान समझकर उनके अनुयायियों को समान-दृष्टि से देखता है और साधु-संतों आदि का उचित सत्कार करना राजा का धर्म है । ऐसा राजा नीतिज्ञ माना जाता है ।

लेकिन राजा को सिंहासन से उतरते देख विश्वामित्र ने क्रोध भरे शब्दों में कहा—बस राजा । सिंहासन पर ही ठहरो । मैं तुमसे सम्मान पाने की अभिलाषा से नहीं आया हूँ । तुम न्यायाधीश हो । अतः मैं तुमसे न्याय कराने की आशा से यहाँ आया हूँ ।

इस प्रकार विश्वामित्र की क्रोध भरी बात सुन और

उनका भयंकर स्वरूप तथा लाल-लाल आंखें देखकर सभापद तो कांप उठे किन्तु हरिश्चन्द्र को किंचित् भी भय न हुआ। उन्होंने नम्रतापूर्वक कहा—महाराज आप इतने क्रोधित क्यों हैं ? न्याय और क्रोध आपस में दुश्मन हैं। प्रायः सच्चा मनुष्य भी क्रोध करने के कारण झूठा माना जाता है। यदि मेरे कहने योग्य कोई न्याय है तो आप शान्तिपूर्वक विराजिए और आज्ञा दीजिए कि आप किस बात का न्याय चाहते हैं ? मैं न्याय करने लिए ही बैठा हूँ, अतः आपके लिए कोई दूसरा थोड़े ही हूँ। मुझसे न्याय पाने का तो सबको अधिकार है।

राजा की शांत और तेजोमय मुद्रा देखकर विश्वामित्र चकित रह गए। वे न्यायालय में आने का पश्चात्ताप करके मन में कहने लगे कि मैंने यहाँ आकर बड़ी भूल की। यदि मैं यहाँ न आकर अपने आश्रम में बैठे ही इसे दंड देता तो अच्छा होता, इसलिए न्याय प्राप्ति के सभी नियमों का पालन करना पड़ेगा। मैंने सोचा तो यह था कि मैं आते ही अपना क्रोध दिखाकर राजा को भयभीत कर दूंगा। परन्तु यहाँ आकर तो मुझे अपमानित ही होना पड़ा।

राजा हरिश्चद्र ने विश्वामित्र को आसन दिया और सम्मान करते हुए कहा कि—महाराज आज्ञा दीजिए कि आप किस बात का न्याय चाहते हैं ?

विश्वामित्र—मैं जिस बात का न्याय चाहता हूँ, क्या तू उसे नहीं जानता जो मुझसे पूछता है।

हरिश्चन्द्र—महाराज शांत होइए और विचारिए कि यदि मैं जानता होता तो आपको यहाँ पधारने का कष्ट ही क्यों करना पड़ता ?

विश्वामित्र—जैसे तू राजा है वैसे ही हम योगी हैं। जिस प्रकार तुझे राज्य के अधिकार हैं वैसे ही हमें आश्रम के अधिकार हैं। ऐसी स्थिति में जिस प्रकार तू राज्य में अपराध करने वाले को दंड देता है, उसी प्रकार हम आश्रम में अपराध करने वाले को दंड दे सकते हैं या नहीं ?

हरिश्चन्द्र—महाराज, आश्रम राज्य-सीमा के ही अंतर्गत है अतः वहाँ अपराध करने वाला भी राज्य में ही अपराध करने वाला समझा जाएगा। ऐसा अपराधी राज्य द्वारा ही दंडित हो सकता है।

विश्वामित्र—हमारे आश्रम में अपराध करे, हमारी अवज्ञा करे और हम उसे दंड भी नहीं दे सकते ?

हरिश्चन्द्र—नहीं महाराज, आपको दंड देने का अधिकार नहीं है। आपकी अवज्ञा करने वाला भी राज्य का अपराधी है और उसको दंड देने के लिए ही राजा राज-दंड धारण करता है।

विश्वामित्र—जान पड़ता है, तेरे बुरे दिन आ गए हैं, इसी से तुझे ऋषियों की प्रतिष्ठा का ध्यान नहीं है। जब तू हमारे बनाए हुए नियमों के अनुसार राज-कार्य करके अपराधियों को दंड देता है, तो हम अपने आश्रम के अप-... को दंड क्यों नहीं दे सकते।

हरिश्चन्द्र—आप लोगों के बनाए हुए नियम ही कह रहे हैं कि दंड देने का अधिकार केवल राजा या राजा द्वारा इस कार्य के लिए नियुक्त कर्मचारी को ही प्राप्त है, दूसरे को नहीं। ऐसी अवस्था में मैंने ऋषियों की या आप की कोई अप्रतिष्ठा तो नहीं की है।

विश्वामित्र—अच्छा, एक बात और बता। हमने अपने अपराधियों को तपबल से बांधा था, लेकिन इस पृथ्वी पर मेरा एक ही शत्रु, प्रतिद्वन्दी और मेरी अवज्ञा करने वाला ऐसा है कि जिसने उनको छोड़ दिया। वह छोड़ने वाला अपराधी है या नहीं और यदि है तो किस दंड के योग्य है।

विश्वामित्र की इस बात को सुनते ही हरिश्चंद्र को कल की बात स्मरण हो आई है। वे समझ गए कि ऋषि ने अपने तपबल का प्रभाव बतलाते हुए यह बात मेरे लिए कही है। राजा ने हंसते हुए और व्यंग करते हुए कहा—महाराज यह बात तो मेरे लिए ही है। क्योंकि मैंने ही उन देवांगनाओं को बंधन मुक्त किया था। लेकिन ऐसा करने में न तो मेरा भाव आपसे दुश्मनी का था, न प्रतिद्वन्दिता का और न अवज्ञा करने का ही। वे लता-वृक्षों से बंधी दुःख पाती हुई चिल्ला रही थीं, इसीलिए मैंने दया कर और उन्हें उनका कर्तव्य समझाकर छोड़ दिया था। ऐसी अवस्था में मेरा कोई अपराध नहीं है। इस मामले में आप वादी हैं और मैं प्रतिवादी हूँ, अतः यदि आप उचित समझें तो इस मामले का न्याय पंचों द्वारा करवा लिया जाय।

हरिश्चन्द्र का उत्तर सुनकर विश्वामित्र विचारने लगे कि मैंने तो यह सोचा था कि इस प्रकार इससे अपराध स्वीकार कराके इसी के मुंह से इसे दंड दिलवाऊँगा। परन्तु इसने तो मुझे ही अपराधी ठहराया है और दंड न देने की, अपनी कृपा बता रहा है। मन में यह विचार आते ही विश्वामित्र को निराशा हुई। वे असमंजस में पड़ गए कि यदि मैं राजा के कथन को ठीक मानता हूँ तो यह एक प्रकार से भरी सभा में मेरा अपमान हुआ माना जाएगा।

विश्वामित्र पुनः अपना क्रोध प्रगट करते हुए कहने लगे—तू तो अपने अपराध को स्वीकार करने के बदले, उलटा मुझ पर ही दोषारोपण करता है। तपस्वियों की बात में बाधा डालने का तुझे कदापि अधिकार नहीं हैं लेकिन तूने अज्ञानवश इसे अपना ही अधिकार मान रखा है। सूर्यवंश के सिंहासन पर तो ऐसे अज्ञानी को बैठना बिल्कुल उचित नहीं है। अतः अपना राज्य भार दूसरे को देना ही ठीक है। अज्ञानी राज्य करने के योग्य नहीं होता है।

हरिश्चंद्र—महाराज! किसी दुखी का दुख मिटाना मेरा कर्तव्य है। मैंने कर्तव्य और करुणा की प्रेरणा से देवांगनाओं को बंधन मुक्त किया है। इसमें मेरा अपराध नहीं है और जब अपराध ही नहीं तो केवल आपको प्रसन्न करने के लिए यह कार्य अपराध नहीं माना जा सकता है। आप मेरा अपराध सिद्ध कीजिए और फिर मैं दंड न लूं तो मेरा अज्ञान है। ऐसी स्थिति में मुझे राज्य भार दूसरे

के हाथों में सौंप देना ही उचित होगा । यदि कर्तव्य-पालन ही अज्ञान कहा जाएगा तो ज्ञान किसे कहेंगे ? किसी दुख में पड़े हुए को दुख मुक्त करने में, चाहे कायर और निर्दयी तो अज्ञान कहें परन्तु दयावान और वीर तो इसे ज्ञान ही मानेंगे तथा मौका पड़ने पर उसे दुख मुक्त करने की चेष्टा करेंगे । आपकी दृष्टि में यदि देवांगनाओं को छोड़ देना अज्ञान और अपराध है तो इसका पंचों द्वारा निर्णय करा लीजिए । यदि पंचों ने आपकी बात का समर्थन किया तो मैं दंड का पात्र हूँ और साथ ही राज्यपद के अयोग्य हूँ । उचित तो यह था कि मेरे इस कार्य से आप यह विचार कर प्रसन्न होते कि मैंने तो क्रोधित हो उन देवांगनाओं को बांध दिया था और राजा ने अपने राजधर्म का पालन किया । लेकिन इस जगह आप मुझे दोषी ठहराते हैं और मेरा अज्ञान बतलाते हैं । आपको इस पर भी विचार करना चाहिए था कि यदि मेरा कार्य राजधर्म के विरुद्ध होता तो देवांगनाएँ आपके तपोबल से बंधी थी, वे खुलतीं कैसे ? महाराज जरा शांतिपूर्वक विचार कीजिए तो आपको मेरा यह कार्य अनुचित नहीं जचेगा ।

दुराग्रही मनुष्य उचित—अनुचित और न्याय-अन्याय को न देखकर किसी भी प्रकार से अपनी हठ पूरी करना चाहता है । इसीलिए विश्वामित्र राजा से अपराध स्वीकार करने की हठ पकड़े हुए थे । लेकिन राजा किसी को भी प्रसन्न करने के लिए कदापि झूठ नहीं बोल सकता । विश्वामित्र ने

सोचा कि मैं संतोष कर लूं और राजा को किसी प्रकार से नीचा नहीं दिखाऊँ तो यह मेरा और भी अपमान होगा। यदि मध्यस्थ द्वारा निर्णय कराता हूँ तो निश्चय ही वे लोग मेरे पक्ष को झूठा बतला देंगे। एक भूल तो मैंने यहाँ आने की की और अब पंचों से निर्णय कराता हूँ तो वह मेरी दूसरी भूल होगी। इस प्रकार तो राजा अपना अपराध स्वीकार नहीं करता है, इसलिए अब अपराध स्वीकार कराने के लिए किसी दूसरे उपाय को अपनाना चाहिए। ऐसा विचार कर विश्वामित्र कपट भरी प्रसन्नता दिखलाते हुए बोले— हाँ तो तूने राजधर्म का पालन करते हुए उन देवांगनाओं को छोड़ा है, क्यों ?

राजा—हाँ महाराज।

विश्वामित्र—ठीक है, लेकिन इसी प्रकार क्या अन्य सब बातों में भी राजधर्म का पालन करेगा ?

हरिश्चंद्र —अवश्य ! यदि मैं किसी स्थान पर राज-धर्म का पालन न कर सका तो फिर राजा कैसा ?

विश्वामित्र—यह बात तो तू जानता ही है कि राज-धर्म में दान करना राजा का कर्तव्य बतलाया गया है और राजा से की गई याचना भी कभी खाली नहीं जाती।

हरिश्चन्द्र—जानता ही नहीं, बल्कि पालन भी करता हूँ।

विश्वामित्र—अच्छा हमारी एक याचना पूरी करेगा।

हरिश्चन्द्र—आप याचना कीजिए और मैं उसे पूरा करने

में असमर्थ रहूँ तब और कुछ कहियेगा।

विश्वामित्र—मैं तुझसे ससागर पृथ्वी और तेरे राज-वैभव की याचना करता हूँ।

विश्वामित्र की बात सुनकर हरिश्चन्द्र के चेहरे पर सल भी नहीं आया और प्रसन्न मन से कहा कि—राज्य क्या यदि आप इस शरीर को भी मांगते तो यह भी आपकी सेवा में अर्पण करता। राज्य माँगकर तो आपने मेरे सिर का बोझ ले लिया है। अतः इसके देने में मुझे क्या आपत्ति हो सकती है?

हरिश्चन्द्र ने पृथ्वी देने के लिये पृथ्वी पिंड और संकल्प करने के लिये जल की झारी लाने की सेवक को आज्ञा दी।

११. याचना पूरी करना राजधर्म है

दान, तप और संग्राम यह तीनों ही कार्य वीरता होने पर होते हैं। लेकिन जो कायर हैं वे इन तीनों में से किसी एक को भी नहीं कर सकते हैं। यद्यपि भविष्य का विचार तो वीर लोग भी करते हैं लेकिन वे भविष्य के कष्टों का अनुमान करके अपने निश्चय से विचलित नहीं होते हैं।

राजा को निर्भयता पूर्वक पृथ्वी-पिंड और जल की झारी मंगाते देख विश्वामित्र चकराए। उन्होंने सोचा तो यह था कि जब राज्य देने में हरिश्चन्द्र को संकोच होगा तब मैं कहूँगा कि देवांगनाओं को बंधनमुक्त करने में तो राजधर्म का पालन किया और यहाँ हिचकिचाता है? जब उस समय नहीं सोचा था तो अब क्यों विचार करता है? इस युक्ति से बाध्य कर देवांगनाओं को छोड़ने का अपराध स्वीकार करा लूंगा और मेरी बात रह जाएगी। लेकिन अब मुझे क्या करना चाहिए? मालूम पड़ता है कि इसे बड़ा ही अहंकार है, लेकिन देखता हूँ कि इसका यह अहंकार कब तक रहता है।

दुराग्रही मनुष्य दूसरे के सत्य और कर्तव्य-पालन को भी अहंकार समझता है। उसे इस बात का विचार नहीं

होता कि अपनी झूठी हठ सिद्ध करने के लिए इस प्रकार के उपाय करना अहंकार है या सत्य का पालन करना अहंकार है।

पृथ्वी का पिंड और जल की झारी आ जाने पर राजा ने पृथ्वी पिंड हाथ में लेकर विश्वामित्र से कहा—महाराज ग्रहण कीजिए।

विश्वामित्र—राजा जरा सोच-विचारकर राज्य-दान कर और यह भी सोच ले कि ससागर पृथ्वी देने के पश्चात् राजा के पास क्या-क्या रहता है?

हरिश्चन्द्र—महाराज विचारने का काम तो तब था जब मैं राज्य को किसी बुरे कार्य के लिए दान देता होता। मैं दे रहा हूँ और वह भी आप जैसे ऋषि को। फिर इसमें सोचना-विचारना क्या है?

राजा को इस प्रकार राज्य-दान में तत्पर देख महामंत्री खडा होकर कहने लगा—महाराज आप बात-ही-बात में यह क्या कर रहे हैं? बिना किसी बात का विचार किए, बिना किसी से सम्मति लिए अकेले ही राज्य दे रहे हैं? कोई कार्य एकदम नहीं कर डालना चाहिए। किसी कवि ने कहा है—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदापदम्।

हठात् किसी काम को नहीं कर डालना चाहिये। बिना विचारे काम करने से विपत्ति की संभावना रहती है।

आप यह तो विचारिये कि ज़रा-सी बात के लिये

सारा राज्य ऐसे क्रोधी ऋषि के हाथ में सौंपने से राज्य की क्या दशा होगी और प्रजा को कितना कष्ट होगा ? बात तो देवांगनाओं के छोड़ने का अपराध स्वीकार करने की ही तो और इस जरा-सी बात के लिए राज्य दे देना दूरदर्शिता कैसे कही जा सकती है ?

महामंत्री की यह बात सुनकर विश्वामित्र के हृदय में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई कि यदि महामंत्री के कहने से हरिश्चन्द्र मान जाय और अपना अपराध स्वीकार कर ले तो यह सब झंझट ही मिट जाय। लेकिन हरिश्चन्द्र का उत्तर सुनते ही विश्वामित्र की आशा क्रोधपूर्ण निराशा में परिणत हो गई।

हरिश्चन्द्र महामंत्री की बात सुनकर बोले—महामंत्री शुभ कार्य में सहायता देना तुम्हारा कर्तव्य है, न कि बाधा देना। तुम जरा इस बात का भी तो विचार करो—

धनानि जीवितं चैव, परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत्।
सन्निमित्ते वरं त्यागो, विनाशे नियते सति॥

बुद्धिमान मनुष्य अपने धन और प्राणों को दूसरों के लाभ के लिए त्याग देते हैं, क्योंकि इनका नाश होना तो निश्चित है। अतः परोपकार के लिये इनका त्याग करना श्रेष्ठ है।

मैं राज्य को जुए के दाव पर लगाता होऊं या किसी और कार्य में देता होऊं तो तुम्हारा कहना ठीक है परन्तु मैं तो उसे दान कर रहा हूँ। शायद तुम्हारी दृष्टि में राज्य

एक महान वस्तु हो और धर्म एक तुच्छ वस्तु हो परन्तु मेरी दृष्टि से राज्य तुच्छ और धर्म महान है। मैं तो धर्मपालन के लिए इस राज्य को दान दे रहा हूँ और इससे तो मेरे पूर्वजों की कीर्ति ही दिगदिगन्त में फैलेगी कि सूर्यवंश ही एक ऐसा वंश है जिसने राज्य तक दान में दे दिया।

महामंत्री ! भावुकता के वश होकर राज्य नहीं दे रहा हूं बल्कि ये याचक बनकर मांग रहे हैं। याचक की याचना पूरी करना राजा का धर्म है। मैं राज्य देने की बात कह चुका हूँ अतः तुम्हारा कहना—सुनना व्यर्थ है। मैं अब अपने निश्चय से टल नहीं सकता किसी कवि ने कहा है—

विदुषां वदनाद्वाचः सहसा यान्ति नो बहिः।
याताश्चेन्न परांचन्ति द्विरदानां रदा इव ॥

विद्वान मनुष्य के मुख से सहसा कोई बात नहीं निकलती और यदि निकली है तो फिर लौटती नही। जैसे हाथी के दांत बाहर निकलने के पश्चात् फिर भीतर नहीं जाते।

यदि अपराध स्वीकार करने की कहो तो मैं झूठ किसी समय और किसी भी अवस्था में नहीं बोल सकता। रही प्रजा की बात सो यदि प्रजा में शक्ति होगी तो वह विश्वामित्र को अपने अनुकूल बना लेगी। प्रजा से विरोध करके राजा एक पल भी नहीं ठहर सकता और न ऐसे राजा को प्रजा ठहरने ही देती है। इसलिए इस विषय में कोई विचारणीय बात नहीं है।

महामन्त्री ! मैं राज्य विश्वामित्र ऋषि को दे रहा हूं,

किसी दूसरे की तो राज्य मांगने की हिम्मत ही नहीं पड़ सकती । ये अपना राज्य छोडकर आए हैं, अतः राज कार्य से परिचित हैं । यही कारण है कि इन्होंने मुझ से राज्य मांगा । राज्य देने में मेरी कोई हानि नहीं है, बल्कि इन्हीं की है जो राजर्षि पद छोड़कर फिर राज्य करना चाहते हैं। इस राज्य के लेन-देन में बहुत बड़ा रहस्य है जो अभी अप्रकट है। यदि ऐसा न होता तो ये राजर्षि फिर राज्य करने की इच्छा क्यों करते ? ऐसे बड़े आदमी की राज्य करने की इच्छा हुई तो समझना चाहिये कि इसमें कोई भेद है। राज्य देने में अपनी किंचित् भी हानि नहीं है बल्कि लाभ ही है। इसलिए धर्म और सत्य पर विश्वास रखो और इस श्रेष्ठ कार्य में विघ्न मत डालो ।

राजा की बात सुनकर महामन्त्री तो बैठ गए परन्तु विश्वामित्र विचारने लगे कि राजा ने तो मुझे राजर्षि-पद से गिराने का विचार किया है । यह अपना राज्य देकर मुझे त्यागी से भोगी बना रहा है । मैंने राज्य मांगकर अच्छा नहीं किया और यदि अब नहीं लेता हूं तो राजा की बात सत्य होती है कि देवांगनाओं को छोड़ने में राज्य-धर्म का पालन किया है । मुझे तो इसका घमण्ड दूर करना है। ऐसा करने में मेरा राजर्षि-पद जाता है तो भले ही जाए, परन्तु अपनी बात नहीं जाने दूंगा । यह राज्य तो दे ही रहा है, मैं इससे राज्य तो ले लूं और फिर दूसरे दानादिक में फंसा लूं, तब इसकी बुद्धि ठिकाने आएगी और फिर तो एक बार

ही नहीं बल्कि दस बार यह अपना अपराध स्वीकार करेगा। ऐसे इसका घमण्ड नहीं जाएगा।

विश्वामित्र, यहाँ आकर न्याय मांगने और फिर राज्य मांगने आदि बातों पर मन-ही-मन पश्चात्ताप तो करते हैं, परन्तु अपना दुराग्रह छोड़ने को तैयार नहीं है। ऐसा करने में वे अपना अपमान समझते हैं। इसीलिये अपना राजर्षि-पद खोकर भी राजा से अपनी इच्छानुसार अपराध स्वीकार कराना चाहते हैं, राजा को नीचा देखने के इच्छुक हैं।

विश्वामित्र ने पुनः हरिश्चन्द्र से कहा—देख राजा, अच्छी तरह विचार ले। पीछे से पश्चात्ताप करने से कोई लाभ न होगा। अविवेकपूर्वक, शीघ्रता में आकर जो कार्य किया जाता है, उसका दुःख जीवन भर नहीं भूलता।

हरिश्चन्द्र—महाराज पश्चात्ताप तो बुरा काम करके हुआ करता है, सत्कार्य में किस बात का पश्चात्ताप ? धन और राज्य, ये सब परिवर्तनशील हैं, इनकी स्थिति सदा एक-सी नहीं रहती। किसी कवि ने कहा है—

दान, भोग, अरु नाश, तीन होत गति द्रव्य की।
नाहिन द्वै को वास, तहां तीसरो बसत है॥

दान, भोग, और नाश ये धन की तीन गतियां होती हैं। जो अपने धन का उपयोग न दान में करता है और न भोग में, उसके धन की तीसरी गति नाश अवश्य है।

महाराज, यदि यह राज्य सुकृत्य में लग जाय तो प्रसन्नता की बात है, इसमें पश्चात्ताप की कौन-सी बात है ? मैं

आपको प्रसन्न मन से ससागर पृथ्वी और राज-पाट देता हूँ, आप लीजिये।

विश्वामित्र ने जब देखा, कि यह अपने निश्चय पर दृढ़ है, तब क्रोधित होकर बोले—देखता हूँ, तू कैसा दानी है! अच्छा ला!

हरिश्चंद्र ने पृथ्वी का पिण्ड, विश्वामित्र के हाथ में देते हुए कहा—"इदं न मम" अब यह पृथ्वी मेरी नहीं है। मैं अपनी सता के बदले विश्वामित्र—ऋषि की सत्ता स्थापित करता हूँ।

विश्वामित्र ने राजा से दान पाकर आशीर्वाद दिया—'स्वस्ति भव'। तेरा कल्याण हो।

अब इस राज्य में तो इसका कुछ रहा नही है, इसलिए इसे किसी और बात में फंसा लूं, तब मेरा मनोरथ सिद्ध होगा। ऐसा विचार कर विश्वामित्र ने हरिश्चंद्र से कहा—

राजा! जैसा तूने दान दिया है वैसा आज तक किसी दूसरे ने नहीं दिया। लेकिन तुझे मालूम होना चाहिए कि दान के पश्चात् दक्षिणा का दिया जाना आवश्यक है। अतः जितना बड़ा दान तूने दिया है, उसी के अनुसार दक्षिणा भी होनी चाहिए।

हरिश्चंद्र—हाँ महाराज, दक्षिणा भी लीजिए। महामन्त्री कोष में से एक सहस्र स्वर्ण-मुद्रा ला दो।

हारे जुआरी को एक दांव जीत जाने पर जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता विश्वामित्र को हरिश्चंद्र

की यह बात सुनकर हुई। वे मन-ही-मन कहने लगे कि अब यह अच्छा फंसा है। अब इसकी बुद्धि ठिकाने लाए देता हूँ। जिस क्रोध को कारण न मिलने से विश्वामित्र अच्छी तरह प्रकट न कर सके थे, उसको प्रकट करने के लिए उन्हें कारण मिल गया। वे क्रोध प्रकट करते हुए कहने लगे– तूने मुझे राज-पाट दान में दिया है या मेरा उपहास कर रहा है।

हरिश्चंद्र—क्यों महाराज ?

विश्वामित्र—जब तूने राज-पाट दान में दे दिया तो फिर कोष पर तेरा क्या अधिकारी रहा, जो तू उसमें से दक्षिणा देने के लिऐ स्वर्ण-मुद्रा मंगा रहा है। राज्य या उसके वैभव पर अब तेरा क्या अधिकार है ? तू केवल अपने शरीर और स्त्री-पुत्र का स्वामी है। यदि तेरे या तेरे स्त्री पुत्र के शरीर पर कोई भी आभूषण है तो वह भी मेरा है। ऐसी अवस्था में क्या मेरा ही धन मुझे दक्षिणा में देता है ? मैं इसलिए कहता था कि तू सूर्यवंश में उत्पन्न तो हुआ परन्तु अज्ञानी है। पहले तो तूने देवांगनाओं को छोड़के और फिर हठ करके अपना अपराध न मानने की अज्ञानता की और अब दिए हुए दान में से ही दक्षिणा देने की अज्ञानता करना चाहता है। मुझे तेरी इस बुद्धि पर तरस आता है। इसलिए फिर कहता हूँ कि तू अपना अपराध स्वीकार कर ले, अन्यथा तुझे बड़े-बड़े कष्टों का सामना करना पड़ेगा।

विश्वामित्र की यह बात सुनकर, हरिश्चन्द्र अपनी भूल पर पश्चात्ताप करने लगे कि वास्तव में अब कोष पर

मेरा क्या अधिकार है, जो मैं उसमें से स्वर्ण-मुद्रा दे सकूं। उन्होंने विश्वामित्र से कहा—महाराज, मुझसे यह भूल तो अवश्य हुई, जिसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ। अब रही दक्षिणा की बात, सो मैंने एक हजार स्वर्ण-मुद्रा देने के लिए कहा है। यह आपका मुझ पर ऋण है। मैं किसी दूसरे उपाय से आपका यह ऋण चुका दूंगा।

हरिश्चंद्र को इस प्रकार नम्र देखकर विश्वामित्र को यह आशा हुई कि संभवतः अब समझाने-बुझाने पर यह अपना अपराध भी स्वीकार कर लेगा। ऐसा करने से मैं राज्य के झंझट से भी बच जाऊँगा और मेरा राजर्षि-पद भी बना रहेगा। उन्होंने हरिश्चद्र से कहा—राजा! इस बात का तो विचार कर कि इतनी स्वर्ण-मुद्रा तुझे मिलेगी कहाँ से, क्या इनके लिए भीख माँगेगा? यदि भीख माँगना चाहेगा तो माँगेगा कहाँ? मैं तो तुझे अपने राज्य में रहने न दूंगा।

हरिश्चन्द्र—महाराज! इक्ष्वाकुवंशी देना जानते हैं, माँगना नहीं जानते।

विश्वामित्र—तो फिर क्या करेगा, जिससे मुहरें मिलेगीं।

हरिश्चन्द्र—यदि आप इसी समय मुहरें चाहते हैं तो अभी सिवाय शरीर के मेरे पास और कुछ नहीं है। यदि आप मेरे शरीर से किसी प्रकार अपना ऋण वसूल कर सकते हैं तो मैं इसके लिए सहर्ष तैयार हूँ। अन्यथा, मेरे पूर्वजों ने काशी-क्षेत्र को राज्य से इसलिए पृथक रख छोड़ा

है कि वृद्धावस्था में राज्य-त्याग के पश्चात वहाँ स्वतन्त्रता-पूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें। यदि आपने इस नीति का उल्लंघन न किया और काशी-क्षेत्र को पूर्ववत् राज्य से पृथक ही रखा तो मैं वहाँ कोई उद्योग करके आपको एक मास में एक सहस्र स्वर्ण-मुद्रा चुका दूंगा। मैंने वचन दिया है, इस-लिए मुझे अवकाश मिलना उचित है। आप राजनीतिज्ञ हैं, अतः मेरा विश्वास है कि आप मुझे इसके लिए अवकाश देंगे और काशी-क्षेत्र को राज्य से पृथक रखने की नीति का पालन भी अवश्यमेव करेंगे।

विश्वामित्र मन में सोचने लगे कि यदि मैं काशी-क्षेत्र पर अधिकार करता हूँ तो यह कार्य राजधर्म से विरुद्ध होगा। इसके सिवा यदि राजा को एक सहस्र स्वर्ण-मुद्रा देने के लिए अवकाश नहीं देता हूँ तो नीति का भी भंग करता हूँ। यह सोचकर बोले—राजा! अब भी समझ जा। एक सहस्र स्वर्णमुद्रा तेरे लिए काशी में कहीं गड़ी नहीं है, जो तू निकालकर ला देगा। इसलिए मैं फिर कहता हूँ कि अपना अपराध मानले जिससे राज्य भी तेरे पास बना रहे और कष्ट में भी पड़ना नहीं पड़े। अपनी हठ छोड़ दे, वरना यही हठ तुझे कहीं का न रखेगी।

हरिश्चन्द्र—महाराज! मेरी तो कोई हठ नहीं है। हठ तो आपकी है। आप ही बताइये कि कष्ट के भय तथा राज्य के लोभ से झूठ बोलूं और जो कार्य अपराध नहीं है, उसे अपराध मान लूं यह कैसे हो सकता है। आज तक न

तो इस राज्य को कोई अपने साथ ले जा सका और न ही मैं इसे अपने साथ ले जाने में समर्थ हूँ। इसके उपयोग का ऐसा सुअवसर फिर कब मिलेगा कि आप जैसे ऋषि को मैं इसे दान में दूं और अपने ऊपर एक सहस्र स्वर्ण मुद्राओं का ऋण लूं। आपकी कृपा से मुझे किसी प्रकार का कष्ट न होगा, बल्कि मैं तो उद्योगी बन जाऊँगा। रही स्वर्णमुद्राओं की एक मास में आने की बात सो यह कार्य कठिन नहीं है।

विश्वामित्र- अच्छा, तू अपना हठ मत छोड़ और देख कि तुझे किन-किन कष्टों को भोगना पड़ता है। अब अवध-पति महाराज विश्वामित्र आज्ञा देते हैं कि तू अपनी स्त्री और पुत्र के साथ, आज ही इस नगर को त्याग दे। अपने साथ तुझे एक भी कौड़ी ले जाने का अधिकार नहीं है। दक्षिणा के विषय में भी निर्णय सुनाये देता हूँ कि तू एक मास के भीतर दे देना। यदि एक मास से एक दिन भी ऊपर हुआ तो मैं अपने श्राप से तुझे कुलसहित भस्म कर दूंगा। तपस्वी का श्राप कदापि मिथ्या नहीं होता।

विश्वामित्र की बात सुनकर हरिश्चंद्र मुस्कराए और कहने लगे कि—आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। साथ ही एक प्रार्थना और करता हूँ कि प्रजा ने अब तक जिस आनन्द से दिन व्यतीत किए हैं। आप भी उसे वही आनन्द प्रदान करेंगे और उसी नीति का अनुसरण करेंगे जिससे प्रजा सुखी रहे। आप उस पर दया करके इस प्रकार क्रोध न करें और न ही बात-बात में उसे भस्म करने लगें। अन्यथा बनी

बनाई सुख-शाँति नष्ट हो जाएगी ।

राजा की ऐसी बातें सुनते ही विश्वामित्र की क्रोधाग्नि भभक उठी और कहने लगे—क्या तू हमें राज्य करना सिखलाता है ? हमें इतना भी ज्ञान नहीं है कि जो तुझे सिखलाने की आवश्यकता हुई । जिनके बनाए हुए नियमों के अनुसार तूने अब तक राज्य किया है, आज उन्हीं को सिखाने के लिए तैयार हुआ है ? जानता नहीं है कि अब यह राज्य विश्वामित्र का है । यदि मैं पुरानी प्रथा पर ही स्थिर रहूँ तो फिर मेरा नाम ही क्या ? तुझे अब राज्य या प्रजा की चिन्ता करने और उस विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है, हमारी जो इच्छा होगी, वह करेंगे । सभासद्गण ! तुम लोग जाओ और कल आओ । कल से सब नियम बदल दिये जायेंगे और उनके स्थान पर महाराज विश्वामित्र नये नियम प्रचलित करेंगे ।

सभासद् तो पहले से ही क्रुद्ध हो रहे थे, अतः यह बात उन्हें और भी असह्य हो उठी । वे विचार करने लगे कि ये अभी तो भिखारी से राजा बने और इतनी ही देर में इनकी यह दशा है तो आगे क्या होगा ? अपने दाता की उपस्थिति में भी जब उन्हें लज्जा नहीं तो आगे किसकी शंका होगी ? यह विचार कर उन्होंने निर्भयतापूर्वक उत्तर दिया कि—आप पुराने नियमों की जगह नये नियम किस प्रकार प्रचलित करना चाहते हैं । आपके नियम मानेगा कौन ? आप शासन किस पर करेंगे । यह सभा और यह प्रजा अभी

तक है जब तक महाराज हरिश्चन्द्र यहाँ पर हैं। हम लोग देश-विदेश जाकर चाहे कष्ट सहें, परन्तु आप जैसे अन्यायी के राज्य में कदापि नहीं रहेंगे। जिसने अपने दाता के साथ ऐसी कठोरता का व्यवहार किया है, वह हमारे साथ कब अच्छा व्यवहार करेगा? आप अच्छी तरह समझ लें कि हम लोग उन्हीं महाराज हरिश्चन्द्र की प्रजा हैं जिन्होंने अपना राज्य देने में कोई संकोच नहीं किया तो हमें घर-बार आदि छोड़ने में क्या संकोच होगा? यदि आप राज्य ही करना चाहते हैं तो महाराज के बनाए हुए नियमों को उसी प्रकार रखिए और महाराज को यहाँ से जाने की आज्ञा वापस लीजिए। यह बात दूसरी है कि महाराज के बनाए हुए नियमों में यदि कोई दोष हो तो उसे दूर करें परन्तु सर्वथा बदल कर आप शासन कदापि नहीं कर सकते हैं। महाराज चले नहीं कि हम लोग भी उन्हीं के साथ चले जाएँगे। वे राज्य के भूखे नहीं है। आप प्रसन्नतापूर्वक राज्य कीजिए, परन्तु उन्हें यहाँ से जाने की आज्ञा न दीजिए। रही आपकी दक्षिणा की बात सो हम आपको दिए देते हैं। राज्य की संपत्ति तो हमारी हो सकती है और है भी, परन्तु हमारी संपत्ति पर राज्य का कोई अधिकार नहीं है। इसलिए आप एक हजार स्वर्णमुद्रा हमसे लेकर महाराज को ऋण मुक्त कीजिए और उन्हें यहीं रहने की आज्ञा दीजिए। इस कथन के अनुसार कार्य करने पर तो हम लोग आपसे सहयोग कर सकते हैं अन्यथा ऐसा न हो सकेगा।

आज के लोग यदि उस समय सभासद् होते तो संभवतः विश्वामित्र की हाँ-में-हाँ मिलाने के सिवाय उनके विरुद्ध बोलने की हिम्मत तक न करते। उन्हें तो अपने पद-रक्षा की चिन्ता रहती। लेकिन उस समय के सभासद् सत्य-प्रिय थे। सत्य के आगे वे धन-सम्पत्ति और मान-प्रतिष्ठा को तृणवत् समझते थे। यही कारण है कि विश्वामित्र जैसे क्रोधी के कथन का विरोध करने में भी भय नहीं हुआ।

विश्वामित्र ने सभासदों की बातें सुनकर उन्हें डराना चाहा परन्तु वे सत्य की शक्ति से बलवान थे, इसलिए वे क्यों डरने लगे? विश्वामित्र क्रोध में आकर बड़बड़ाने लगे—दुष्टों! तुमको पता नहीं है कि मैं कौन हूँ? मेरे सामने तुम्हारी यह कहने की हिम्मत? देखो मैं तुमको इसका कैसा दंड देता हूँ, तभी तुम्हें मालूम होगा कि विश्वामित्र की अवज्ञा करने का क्या फल होता है? तुम लोगों का कहना मानकर यदि मैं हरिश्चन्द्र को यहीं रहने दूँ तो मेरा राज्य क्या होगा? और मेरी आज्ञाओं का पूर्णतया पालन कैसे हो सकेगा? मैं हरिश्चन्द्र को एक क्षण भी यहाँ नहीं रहने दे सकता और न उसके नियमों को ही रहने दूंगा।

सभासद—जब हम कह रहे हैं कि महाराज राज्य के भूखे नहीं हैं, वे राज्य नहीं करेंगे वे तो केवल शांति से बैठे रहेंगे और उनकी दक्षिणा भी हम देते हैं तो फिर आप उन्हें क्यों नहीं रहने देते? इतना होने पर भी आप उन्हें निकाल रहे हैं तो इसका अर्थ यही है कि आपको उन्हें कष्ट

में डालना अभीष्ट है और उनकी अनुपस्थिति से लाभ उठाकर आप प्रजा को त्रास देना चाहते हैं। लेकिन यह ध्यान रखिए कि आपका यह सोचना दुराशामात्र है।

इस प्रकार सभासदों के मुंह जो कुछ आया वह कहते हुए क्रुद्ध होकर अपने-अपने घर चल दिए। विश्वामित्र उनके इस व्यवहार से मन में विचारने लगे कि मेरे सामने आज तक किसी को बोलने की हिम्मत न पड़ती थी परन्तु आज मेरी वह शक्ति कहाँ लुप्त हो गई ? ये लोग सत्य के बल से सशक्त हैं, इसी से मैं इनका कुछ नहीं कर सकता ?

जब सभासदों पर कुछ प्रभाव पड़ा नहीं तो विश्वामित्र हरिश्चन्द्र से ही क्रोधित होकर कहने लगे—कुटिल ! तूने खूब जाल रचा है। राज्य देकर दानी भी बन गया, मुझे अपमानित भी किया और अब प्रजा द्वारा विद्रोह करवा पुनः राज्य लेना चाहता है ? यदि तुझे राज्य का इतना ही मोह था तो तूने पहले दिया ही क्यों ?

हरिश्चन्द्र—महाराज, दूसरों का क्रोध भी मुझ पर उतारेंगे। मैं तो आपके समीप ही बैठा हूँ, कहीं गया तक नहीं जो इन्हें सिखाऊँ ? मैंने तो आपसे पहले ही प्रार्थना की थी कि आप शांति से काम लीजिए परन्तु मेरी इस प्रार्थना पर आप और भी क्रुद्ध हो गए। अब मुझे आज्ञा दीजिए और सन्तोष रखिए कि मैं यथासम्भव प्रजा के विचारों को आपके अनुकूल बनाने का प्रयत्न करूँगा।

ऐसा कहकर महाराज हरिश्चन्द्र महल की ओर विदा

हुए और इधर विश्वामित्र मन-ही-मन विचारने लगे कि क्या मैंने हरिश्चन्द्र को दण्ड दिया है ? नहीं-नहीं, मैं स्वयं ही दण्डित हुआ हूँ। मैंने अपने ही मुंह हरिश्चन्द्र से दण्ड मांगा है। मैंने अपनी स्वतन्त्रता उसकी परतन्त्रता से बदल ली है। मैंने अपने पैर स्वयं में ही राज्य की उस बेड़ी को पहन लिया है, जिसे मैं बड़ी कठिनता से तोड़ सका था। स्वतन्त्रता का तो उपयोग वह करेगा और परतन्त्रता मैं भोगूंगा, जैसे मुझे अनुचित क्रोध करने का दण्ड मिला हो ? हरिश्चन्द्र ! वास्तव में तू धन्य है, किन्तु मैं भी तुझे सहज छुटकारा देकर अपना अपमान न होने दूंगा। प्रारम्भ किए कार्य का अन्त देखे बिना पीछे नहीं हटूंगा।

१२ . मिलन

महाराज हरिश्चन्द्र रानी के महल की ओर चले उनके मन में तर्क-वितर्क हो रहे थे कि आज मुझे उस रानी के समीप जाना है, जिसने कहा था कि बिना सोने की पूंछ वाला मृग-शिशु लाए मेरे महल में न आना। तो वह मेरा तिरस्कार करेगी ? रानी ऐसी निन्द्य हठ करने वाली तो नहीं है और न उसे मेरा अपमान करना ही अभिष्ट है। यदि ऐसा होता तो इतने समय में उसका विचार अवश्य ही किसी-न-किसी, रूप में प्रकट हो जाता। उसने मेरे अपमान होने योग्य कोई बात अब तक नहीं की, इससे यही जान पड़ता है कि उसने मुझको अपने मोह-पाश से मुक्त करने के लिए ही ऐसा किया है। रानी ! यदि मेरी कल्पनानुसार ही तेरा विचार है तो मैं तेरे समीप सोने की पूंछ वाला मृग-शिशु लेकर ही आ रहा हूँ। राज्य देना कोई सरल कार्य नहीं है लेकिन मैंने तेरी सहायता से इसे संभव कर बताया है। अब तो मैं तेरे समीप आ ही रहा हूँ, क्या तू मेरे इस कार्य से सहमत होगी ? यह तो नहीं कहेगी कि आधे राज्य की स्वामिनी मैं थी और आपने मेरे अधिकार का राज्य क्यों दे दिया ? यह तो नहीं कहेगी कि राज्य

के भावी स्वामी रोहित के अधिकार पर कुठाराघात क्यों किया? यदि तूने विद्रोह किया तो सारी प्रजा तेरा साथ देकर विद्रोह मचा देगी और मेरा नाम कलंकित होगा कि अपनी स्त्री को राज्य के लिए भड़काया। खैर अभी सब मालूम हो जाएगा कि मेरी ये आशंकाएँ ठीक है या नहीं। लेकिन अब मैं तुझे रानी क्यों कह रहा हूँ? अब तो तू उस गरीब की स्त्री है जिसके पास एक समय का भोजन भी नहीं है और इस अवस्था में भी जो एक सहस्र स्वर्ण-मुद्रा का ऋणी है। तारा! आज तू मुझे क्या कहेगी? जो इच्छा हो सो कह, मुझे सुनना ही होगा।

इस प्रकार चिन्तासागर में डूबे हुए हरिश्चन्द्र, रानी के महल में आये। दासियों से मालूम हुआ कि रानी समीप के उपवन में हैं। राजा चुपचाप बाग में गये और एक वृक्ष की ओट से रानी और रोहित का खेल देखने लगे। उस समय रानी रोहित से विनोद करने के साथ-साथ शिक्षा भी दे रही थी। वह रोहित से पूछ रही थी कि—बेटा, तू कौन है? किस वंश का है? आदि। बालक रोहित माता के इन प्रश्नों का क्या उत्तर देता। वह चुपचाप माता के मुंह की ओर देखने लगा। पुत्र को इस प्रकार अपनी ओर देखते देख, रानी कहने लगीं—वत्स! तू वीर बालक है और वीर-वंश का है। अच्छा यह तो बता कि तू मेरा पुत्र है या अपने पिता का? बालक इसका भी क्या उत्तर देता! तब रानी ही स्वयं उत्तर देती—बेटा! माता का काम तो

केवल जन्म देकर पालन करने का ही है परन्तु शक्ति दाता तो पिता ही हैं । मैं जो तेरी माता हूँ, वह भी तेरे पिता की सेविका है । इसलिए सदैव पिता की आज्ञा का पालन करना और कभी भी हृदय में भय या कायरता मत लाना ।

बालक के हृदय पर माता की शिक्षा का प्रभाव स्थायी होता है । जिन शिक्षाओं को शिक्षकगण एक विशेष-समय में भी बालक के हृदयस्थ करा नहीं करा सकते, उन्हीं को माता सहज में ही हृदयस्थ करा सकती है । माता की दी हुई शिक्षा का प्रभाव ऐसा होता है कि यदि माता चाहे तो अपने बालक को वीर बनाए या कायर, मूर्ख बनाए या विद्वान और सच्चरित्र बनाए या दुश्चरित्र । लाड़-प्यार के समय में ही नहीं बल्कि माता के गर्भ में रहते समय से ही बालक शिक्षा प्राप्त करने लगता है । मातृ-शिक्षा का बालक के जीवन पर बड़ा ही प्रभाव पड़ता है ।

रानी की बातें सुनकर राजा की आशंकाएँ बहुत कुछ मिट गई । वे मन-ही-मन कहने लगे—रानी ! तुझे अभी यह नहीं मालूम है कि मैंने तुझे कंगाल बना दिया है और जिस पुत्र से तू विनोद कर रही है, उसके भविष्य का भी कुछ ध्यान नहीं रखा है । देखूंगा, राज्य देने का समचार सुनकर तू क्या कहती है ? परन्तु प्रश्न यह है कि अब इस समाचार को कहूँ किस हृदय से ।

राजा इस प्रकार के विचारों में डूबे हुए मौन खड़े थे

कि इतने में रानी की दृष्टि राजा पर पड़ी। पति को इस प्रकार देख रानी ने सोचा इन्हें फिर से मेरे मोह ने घेर लिया है—अतः रोहित को सम्बोधन करते हुए कहा—बेटा, चलो चलें। तुम्हारे पिताजी खेलने के लिए सोने की पूंछ वाला मृग-शिशु तो लाए नहीं और खेल देखने आ गए। यह कहती हुई, रानी रोहित को लेकर चल दीं। महाराज हरिश्चन्द्र मन में—"रानी ठहर मैं सोने की पूंछ वाला मृग-शिशु ही लाया हूँ, परन्तु तू उसे पसन्द करेगी या नहीं।" कहते हुए दौड़कर रानी के सामने आकर खड़े हो गए और रोहित को गोद में उठा लिया। रानी अब तक यही समझ रही कि इन्हें पुनः स्त्री-मोह ने सताया है, इसलिए वे मुस्कराते हुए यह कहती हुई चल दीं कि—पुत्र को भी ले लो, मैं अकेली ही रहूँगी। रानी को इस प्रकार जाते देख राजा ने कहा—प्रिये तारा! यह विनोद का समय नहीं है। मेरे आने का कारण तो सोचो। पति की यह बात सुनकर तारा ठिठक गईं और विचारने लगीं कि क्या आज पति को कोई मानसिक दुःख है जो इस प्रकार कह रहे हैं। ऐसी अवस्था में यदि मैं चली जाऊँ तो मुझे धिक्कार है। रानी को रुकी देख राजा बोले—प्रिये तारा! आज का मिलन अन्तिम मिलन है। अब क्या ठीक कि कब मिलें।

इस बात को सुनकर रानी काँप गईं और जैसे ही पति के मुंह की ओर देखा तो सहम उठीं। कातर होकर पति का हाथ पकड़, नम्रतापूर्वक बोली—नाथ! आपने यह

क्या कहा ? आज का मिलन अन्तिम-मिलन क्यों है ? क्या इस दासी से रुष्ट हो या आपने अन्यत्र आने का विचार किया है या और किसी कारण से आपको ऐसा करना पड़ेगा ? प्रभो ! शीघ्र कहिए, आपके इस कथन का अभिप्राय क्या है ?

रानी की यह विनम्रता देख, राजा आश्चर्य-चकित रह गए। वे विचारने लगे कि क्षण भर पहले कठोर बनी रानी इस प्रकार मेरा दुःख जानने के लिए क्यों व्याकुल हो उठी है ? मैं अब तक यह निश्चय नहीं कर पाया कि रानी स्वच्छ-हृदय है या कलुषित-हृदय, क्रूर है या सरल, अभिमानिनी है या विनम्र ! कहाँ तो वह रूठी हुई जा रही थी और कहाँ इस प्रकार नम्रता दिखा रही है ! मेरे प्रति इतना प्रेम ! मैंने तो दान का फल तत्क्षण ही प्राप्त कर लिया है।

इस प्रकार राजा को विचारमग्न देखकर, रानी व्याकुल हो उठीं और कहने लगीं—नाथ ! आप चुप क्यों हैं ? क्या दासी उस बात को सुनने के योग्य नहीं है ?

हरिश्चन्द्र—प्रिये ! ऐसी कौन-सी बात है जो तुम्हें सुनाने योग्य न हो। यदि मैं तुम्हें ही न सुनाऊँगा, तो सुनाऊँगा किसे ! तुम न सुनोगी तो सुनेगा ही कौन ? लेकिन सुनाऊँ क्या ? कोई सुखदायक बात तो है नहीं, जो तुम्हें सुनाऊँ। बल्कि बात को सुनकर तुम दुःखी ही होगी।

तारा—यह तो मैं आपकी मुखमुद्रा से ही समझ चुकी हूँ, लेकिन मैं आपकी अर्द्धांगिनी हूँ, अतः उस सारे दुःख

को न उठा सकूंगी तो कम-से-कम आधा तो बाँट ही लूंगी। इसलिए आप निःसंकोच कहिए।

हरिश्चन्द्र—प्रिये! कर्तव्यवश मैंने राज्य-वैभव सहित ससागर पृथ्वी विश्वामित्र को दान कर दी है। उन्होंने याचना की और मैं उस याचना को ठुकराकर सूर्यवंश को कलंकित नहीं करना चाहता था। अब न तो अपना घर-बार है और न एक जून खाने को ही रहा है। बल्कि दक्षिणा की एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राओं का कर्जदार हूँ।

तारा—प्राणाधार! क्या यह दुःख की बात है? क्या इसी बात को सुनाने में संकोच हो रहा था? मैं तो समझती थी कि कोई ऐसी बात हुई है जिसके कारण सूर्यवंश के साथ-साथ आपको भी कलंक लगने की आशंका है। यह तो महान् हर्ष की बात है। ससागर पृथ्वी का दान, ऊपर से एक सहस्र स्वर्ण-मुद्रा की दक्षिणा और लेने वाले विश्वामित्र जैसे ऋषि, इससे बढ़कर सौभाग्य की बात और क्या हो सकती है? नाथ! आज मेरा मस्तक गर्व से ऊँचा उठ गया कि मेरा पति ससागर पृथ्वी का दाता है। ऐसे दान करने वाले को भी रहने-खाने की चिन्ता हो तो यह आश्चर्य की बात ़। रहने-खाने की चिन्ता तो पशु-पक्षी भी नहीं करते, उसमें हम तो मनुष्य हैं। आपके अटल-सत्य के प्रभाव से सदैव आनन्द-ही-आनन्द है। आप किसी प्रकार की चिंता न कीजिए।

अब तक तो राजा को चिन्ता थी कि रानी को राज्य-

दान की बात असह्य हो उठेगी और वह विपत्ति की कल्पना से काँप जाएगी और मेरा विरोध करेगी। लेकिन रानी की बात सुनते ही राजा की चिन्ता दूर हो गई। वह मन-ही-मन कहने लगे– तारा ! मैं तुझे आज ही पहचान सका हूँ। मैं नहीं जानता था कि तू सहानुभूति की मूर्ति है। मैंने राज्य-दान नहीं दिया, बल्कि त्रिलोक की सम्पत्ति से बदला किया है। लेकिन तारा, अभी तेरी एक परीक्षा और शेष है।

हरिश्चन्द्र ने तारा से कहा—प्राणवल्लभे ! तुमने मेरे इस कार्य का विरोध नहीं किया, जिसके लिए तुम्हें धन्यवाद देता हूँ। क्योंकि आगे चलकर ऐसी-ऐसी स्त्रियाँ होंगी जो विपत्ति के समय भी यदि पति उनका एक छल्ला बेच देगा तो वे उसका विरोध करेंगी और कलह मचा देंगी।

तारा—आर्यपुत्र ! क्या मैं सुख की ही साथी हूँ। मैं राज्य के साथ विवाही गई हूँ या आपके साथ ? यदि आपके साथ, तो मेरे लिए आप बड़े हैं या राज्य ? और आपने जो दान दिया है उसमें मेरा भी तो हिस्सा है। फिर मैं विरोध क्यों करूँ ? भविष्य की स्त्रियाँ जो अपने आपको पति की अर्द्धांगिनी मानेंगी, वे जो कदापि पति के किसी उचित कार्य का किसी समय भी विरोध नहीं करेंगी, लेकिन जो पति की अपेक्षा सम्पत्ति को विशेष समझेंगी, वे अवश्य ही पति के उचित कार्य में सम्पत्ति व्यय करने पर भी विरोध करेंगी। उनके बारे में तो कुछ भी विचारना व्यर्थ हैं परन्तु जो बुद्धिमान होंगी ने मेरे चरित्र से कुछ-न-कुछ शिक्षा ही लेंगी।

हरिश्चन्द्र—प्रिये ! तुम्हें और तुम्हारे माता-पिता को धन्य है, वह नगर धन्य है, जहाँ तुम्हारा जन्म हुआ । साथ ही मैं भी धन्य हूँ जिसे तुम्हारा पति बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है ।

तारा—नाथ ! सीमा से अधिक किसी की प्रशंसा करना भी उसका अपमान है । अतः अब आप क्षमा कीजिये और इस सेविका की ऐसी प्रशंसा न करिये, जिसके कि वह योग्य नहीं है ।

हरिश्चन्द्र—अच्छा प्रिये—अब ऐसी बातों में समय लगाना उचित नहीं है । क्योंकि मुझे आज ही यहाँ से जाना है और एक मास के भीतर ही विश्वामित्र के ऋण से मुक्त होना है । यदि इस अवधि में मैं ऋणमुक्त न हो सका तो विश्वामित्र श्राप देकर मेरे कुल का नाश कर देंगे । अतः उचित समझता हूँ कि इस अवधि तक मैं तुम्हें तुम्हारे पिता के यहाँ पहुंचा दूं ।

यह बात सुनकर रानी को हार्दिक दुःख हुआ लेकिन अपनी पीड़ा को धैर्य से दबाते हुए कहा—प्रभो ! आप मुझे पिता के घर क्यों भेजते हैं । क्या यहीं रहते हुए ऋणमुक्त होने का कोई उपाय नहीं कर सकते ।

हरिश्चन्द्र—न प्रिये, अब हम लोग यहाँ नहीं रह सकते । विश्वामित्र की आज्ञा आज ही राज्य से च की है ।

तारा—तो आपने कहाँ जाने का कि

हरिश्चन्द्र—सिवाय काशी के और कोई स्थान नहीं, जो राज्य से बाहर हो।

तारा—तो क्या मैं काशी नहीं चल सकती ?

हरिश्चन्द्र—प्रवास और वन के दुःख तुम सह न सकोगी, इसलिए तुम्हारा अपने पिता के घर जाना ही अच्छा है।

तारा—जीवन-सर्वस्व ! आप विचारिये तो सही कि आपके राज्य से बाहर चले जाने और मेरे इसी राज्य में रहने पर विश्वामित्र की आज्ञा का पूरी तरह पालन कैसे होगा ? मैं आपकी अर्द्धांगिनी हूँ और मेरे यहीं रहने पर आपका आधा अंग राज्य के बाहर गया माना जाएगा, इसके सिवाय जिन कष्टों को आप सह सकेंगे, इन्हें मैं क्यों न सहूँगी ? नाथ ! मैं और सब कुछ सुन सकती हूँ पर यह बात आप मुझे न सुनाइए। छाया काया के, कुमुदिनी जल के, चन्द्रिका चन्द्र के और पत्नी पति के साथ ही रहेगी, विलग नहीं। मुझे आपके साथ रहने में जो आनन्द है, वह पृथक रहने में नहीं। बिना आपके मैं स्वर्ग को तिलांजलि दे सकती हूँ परन्तु आपके साथ नरक में भी मैं आनन्द मानूंगी। मछली को जैसे जल से निकाल देने पर सब आनन्दमय वस्तुएं जल के बिना सुख-दायी नहीं होतीं, वैसे ही स्त्री के जीवन—पति के बिना स्त्री को भी सब सुख दुःख ही है। अतः इस दासी को अपनी सेवा विलग न कीजिये और चाहे जो कुछ करिए।

हरिश्चन्द्र—प्राणाधिके ! अभी तुम्हारा मेरे साथ चलना

उचित न होगा। मैं जहाँ जा रहा हूँ, वहाँ रहने के लिए न तो नियत-स्थान है और न किसी उद्योग का ही प्रबंध है। यहाँ तक कि एक समय का भोजन भी पास नहीं है। ऐसी दशा में मैं तुम्हें अपने साथ ले जाकर कष्ट में नहीं डालना चाहता। इसके सिवाय स्त्री-जाति स्वभावतः सुकुमार होती है। तृषा, क्षुधा, मार्ग के कष्ट आदि सहन करने के योग्य नहीं होती। कदाचित् तुमने इन कष्टों को सह भी लिया तो काशी पहुँच कर मैं तुम्हारे खाने, रहने आदि की चिन्ता करूंगा या ऋण-मुक्त होने की? इन बातों पर ध्यान देकर तुम्हें पिता के यहाँ रहना ही उचित है। यद्यपि विश्वामित्र ने मेरे साथ ही तुम्हें भी राज्य से चले जाने की आज्ञा दी है परन्तु मैं उनसे इस बात की याचना कर लूंगा कि वे तुम्हें अपने पिता के यहाँ रहने की आज्ञा दे दें।

तारा—प्राणनाथ! मैं आपसे पहले ही प्रार्थना कर चुकी हू कि आपकी सेवा के बिना मैं एक क्षण भी नहीं रह सकती। मैंने जिन कष्टों को नहीं सहा है तो आप भी कहाँ उनके अभ्यस्त हैं? यदि आप सहन करने में समर्थ होंगे, तो मैं क्यों असमर्थ रहूँगी? रहा मेरे खाने-पीने का प्रश्न ... प्रकार आप रहेंगे, उसी प्रकार मैं भी रहूँगी ... की चिन्ता आपको ही नहीं, मुझे भी है। ... में आधी रकम की ऋणी मैं भी हूँ। सुख ... में तो पति के साथ रहे और दुःख तथा ... से पृथक् रहे, यह पत्नी का कर्तव्य न...

कहा—

प्रारम्भ कुसुमाकरस्य परितो यस्योल्लसन्मंजरी ।
पुंजे मंजुलगुंजितानि रचयस्तानातनोरुत्सवान् ॥
तस्मिन्नद्य रसाल शाखिनिदशां दैवात् कृशामंचति, ।
त्वं चेन्मुंचसि चंचरीक विनयं नीचस्त्वदन्योऽस्तिकः

हे भ्रमर ! वसंत के आते ही जब आम में मंजरिया खिल उठीं तब तो तूने उसके चारों ओर मंजु-मंजु गुंजार करते हुए खूब मजा लिया और अब दैववशात् आम के कृश हो जाने पुष्प-विहीन हो जाने पर यदि तू उससे प्रेम न रखेगा तो तुझसे बढ़कर नीच कौन होगा ?

स्वामी, जब भ्रमर भी ऐसा करने पर नीच कहलाता है तब मनुष्य और विशेषत: पत्नी का ऐसा व्यवहार क्योंकर उचित कहा जा सकता है ? नाथ मैं क्षत्रिय कन्या हूँ, वीर पत्नी हूँ और वीर माता हूँ । कष्टों के भय से मैं आपकी सेवा का त्याग कदापि नहीं कर सकती । प्राणवल्लभ ! क्षत्रिय लोग देना जानते हैं, याचना करना नहीं जानते । अतः आप मेरे रहने के लिए विश्वामित्र से भीख मागें, यह सूर्य-वंशी राजा और ससागर-पृथ्वी के दाता के लिए तो और भी विशेष कलंक की बात है । इसलिए कृपा करके आप ऐसी निष्ठुर आज्ञा देकर इस दासी का और अधिक अपमान मत कीजिये । यह सेविका, बिना आपकी सेवा के अपना जीवन नहीं रख सकेगी, पति से वियोग होने की अपेक्षा मृत्यु को बुरा नहीं समझेगी ।

हरिश्चन्द्र—प्रिये ! कहाँ तो तुमने सोने की पूंछवाला मृगशिशु लाए विना महल में आने से ही रोक दिया था और कहाँ आज इस प्रकार साथ चलने को कह रही हो ?

तारा—नाथ ! यह बात तो मैं भूल ही गई थी। आपने खूब याद दिलाई, आज तो आप सोने की पूँछवाला मृगशिशु लेकर ही पधारे हैं। क्या राज्य का दान करना कोई साधारण कार्य है ? आपने इस सोने की पूंछवाले मृगशिशु के समान असम्भव कार्य को सम्भव कर दिखाया है। फिर मेरी प्रतिज्ञा अपूर्ण क्यों कहला सकती है ? प्रभो ! मैंने आपके साथ जो मान का व्यवहार किया था, वह इसी अभिप्राय से कि आप असंभव कार्य को भी संभव कर दिखाएँ। मेरी यह अभिलाषा पूर्ण हुई। अब मैं आपसे उस निष्ठुर व्यवहार के लिए क्षमा-याचना करती हूँ।

हरिश्चन्द्र—तारा ! मैं आज तुमको समझ सका कि तुम कौन हो, मेरे प्रति तुम्हारे क्या भाव हैं और मेरे लाभ के लिए तुम अपने स्वार्थ को किस प्रकार ठुकरा सकती हो। कोई दूसरी स्त्री तुम्हारी समता करने के लिए युवास्वथा में पति-सुख छोड़ने और इस प्रकार त्याग दिखाने में कदापि समर्थ नहीं हो सकती। यद्यपि मैंने अपना राज्य दान कर दिया है, तथापि उसके फलस्वरूप तुम मुझे प्राप्त हुई हो। तुम मेरे लिए अमूल्य हो। सांसारिक लोगों की यह प्रथा है कि विदेश-गमन के समय मूल्यवान पदार्थ को साथ न ले जाकर किसी स्थान पर सुरक्षित रख देते हैं। इसी के अनुसार

मैं भी तुम्हें तुम्हारे पिता के यहाँ सुरक्षित रखने में अपना लाभ देखता हूँ।

तारा– स्वामी ! आप और सब कुछ कहिए, परन्तु मुझे आपकी सेवा से दूर रखने का विचार भी न कीजिए। सुख के समय स्त्री चाहे पति से दूर रहे, परन्तु दुःख के समय जो स्त्री पति का साथ छोड़ देती है, वह स्त्री नहीं वरन् स्त्री-जाति का कलंक है। यदि आपको मेरी प्रशंसा करके इस प्रकार अपमानित करना है, तारा के नाम की गणना भी ऐसी कलंकिनी स्त्रियों में ही करानी है तब तो जैसी इच्छा हो वैसा कीजिए, अन्यथा इस दासी को साथ रखकर देखिए कि यह आपकी कैसी सेवा करती है। उस समय आप यह भी परीक्षा कर सकेंगे कि यह दासी आपकी अर्द्धांगिनी कहलाने के योग्य है या नहीं। प्रभो ! आपने जो युक्ति दी है उसके अनुसार भी विपत्ति के समय मूल्यवान पदार्थ को समय-असमय के लिए साथ रखा जाता है, छोड़ा नहीं जाता और उसको सुरक्षित रखकर विपत्ति सही जाय, यह नीति-विरुद्ध सिद्धांत है। नाथ ! इस दुखिनी के लिए पति-वियोग का दुःख असह्य है और वह भी कष्ट के समय। इस दासी की शोभा तो आपके साथ है। जिस प्रकार अब अब तक राज-सुख भोगने में यह सेविका आपकी सहयोगिनी रही है उसी प्रकार कष्ट भोगने में भी सहयोगिनी रहेगी। पति-पत्नी-सम्बन्ध ही सहयोग के लिए होता है, अतः मुझे इस समय अपने सहयोग से वंचित न कीजिए। मैं अपने

कारण आपको किसी प्रकार भी कष्ट न होने दूंगी, बल्कि जो कष्ट होंगे, उनमें से आधे मैं बांट लूंगी। जिस प्रकार अगरबत्ती की परीक्षा उसके जलने पर होती है, वैसे ही स्त्री की परीक्षा कष्ट में होती है। सुख के समय स्त्री का पति-भक्त होना तो कोई विशेष बात नहीं नहीं है। परन्तु परीक्षा तो संकटकाल में ही होती है। इसलिए आप दया करके मुझे इस कसौटी के सुयोग से दूर न कीजिए। मैं अपने लिए आपको कोई चिन्ता न होने दूंगी। इतने पर भी यदि आप मेरी प्रार्थना स्वीकार न करेंगे तो मेरे लिए मृत्यु का आलिंगन आवश्यक हो जाएगा।

हरिश्चन्द्र मन-ही-मन तारा की प्रशंसा और अपने भाग्य की सराहना करते हुए कहने लगे—एक तो वे स्त्रियाँ हैं, जो दुःख के समय पति से पृथक् हो सुख से रहने में प्रसन्न होती हैं और एक तारा है, जिसने सुख के समय तो मुझे दूर रखा परन्तु दुःख के समय मुझसे दूर नहीं रहना चाहती। यदि ऐसे समय में किसी दूसरी स्त्री से कहा जाय कि तुम दुःख में साथ न रहो पर सुख में रहो तो वह प्रसन्न होकर कहती कि अच्छा हुआ जो मुझे दुःख से छुटकारा मिला। परन्तु धन्य है तारा, जो इतना समझाने-बुझाने पर भी इस समय मेरे साथ ही चलना चाहती है।

राजा ने जब देखा कि तारा किसी प्रकार भी मेरा साथ न छोड़ेगी तो उन्होंने और विशेष समझाना अनावश्यक समझा। उन्होंने कहा—तारा, यदि तुम्हारी यही इच्छा है तो

देर न करो, शीघ्र ही तुम और रोहित तैयार हो जाओ। लेकिन इस बात का ध्यान रहे कि साथ में एक कौड़ी भी लेने की आवश्यकता नहीं है। वस्त्र भी इतने साधारण हों कि जिनसे अधिक साधारण और हो ही नहीं सकते और इतने ही हों कि जिनके बिना काम न चले।

१३. दुराग्रह टस से मस न हुआ

सभासदों के सभा छोड़कर आते ही समस्त नगर में यह समाचार बिजली की तरह फैल गया कि आज राजा ने राजवैभव सहित ससागर-पृथ्वी विश्वामित्र को दान में दे दी है और विश्वामित्र ने उन्हें तत्काल ही नगर छोड़ने की आज्ञा दी है। जनता जहाँ-तहाँ झुँड-के-झुँड एकत्रित हो इसके बारे में चर्चा कर रही थी कि राजा ने तो इस राज्य रूपी परतन्त्रता से अपने को स्वतंत्र कर लिया परन्तु अब हमारी क्या दशा होगी ? उस विश्वामित्र को धिक्कार है जिसे ऋषि होकर राज्य का लोभ हुआ। उस निर्दयी को राजा से राज्य लेते हुए और उन पर एक सहस्र स्वर्ण-मुद्रा का ऋण लादते लज्जा भी नहीं आई ! उस ऋषि से तो हम गृहस्थ ही भले जो छल द्वारा किसी की संपत्ति तो नहीं हड़पते हैं। उस पापी पर बज्र भी नहीं गिरा। राजा से ऐसा व्यवहार करते समय उसका हृदय क्यों नहीं फट गया और वह जीभ टुकड़े-टुकड़े क्यों नहीं हो गई जिसने राजा से राज्य मांगकर दक्षिणा के ऋणजाल में फंसा लिया और नगर छोड़कर जाने की आज्ञा दी है।

जिसके मुंह जो आया वह कहने लगी और

धिक्कारने लगी।

जो राजा प्रजा का पुत्रवत् पालन करता है, उसके दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होता है, जिसके कार्य न्याय और धर्म के विरुद्ध नहीं होते, उस राजा को प्रजा भी पितृवत् समझती है और ऐसे राजा के लिए अपना तन-मन-धन तक अर्पण करने में सौभाग्य मानती है। लेकिन जो राजा प्रजा को कष्ट में डालता है और उसके सुख व अधिकारों की उपेक्षा करता है, केवल अपने ही आनन्द में आनन्द मानता है, उसकी प्रजा भी राजा के प्रति अच्छे भाव नहीं रखती तथा ऐसे राजा से पीछा छुड़ाने में श्रेय माना करती है। इससे सिद्ध है कि राजा जैसे चाहे वैसे ही अपनी प्रजा को अपने अनुकूल व प्रतिकूल बना सकता है।

प्रजा को विकल और विश्वामित्र के प्रति क्रुद्ध देख प्रजा में से कुछ बुद्धिमान, नीतिमान लोगों ने जनता से कहा कि इस प्रकार विश्वामित्र पर क्रोधित होकर कहने से न तो अपना ही कुछ लाभ है और न राजा का ही। राजा ने तो राज्य-दान करके अपना कर्तव्य पाला है। इसलिए हमें तो ऐसा कार्य करना चाहिए जिससे राजा को कुछ सुख मिले। हमारी समझ से तो इस समय विश्वामित्र के पास चलकर उनसे इस विषय में बातचीत करना उचित है। यदि वे राजा का ऋण हमसे लेकर उन्हें ऋण मुक्त कर दें तथा साथ में कुछ और भी चाहें तो वह लेकर राजा को उनकी इच्छानुसार स्थान पर रहने की स्वतन्त्रता दे दें तो इससे

राजा का भी कुछ लाभ होगा, हमारा भी लाभ होगा और राजा को हमारी सहानुभूति का परिचय मिलेगा ।

बुद्धिमानों की यह बात सबको पसन्द आई । प्रजा में से कतिपय मुख्य-मुख्य लोगों का प्रतिनिधि-मंडल बनाकर विश्वामित्र के पास भेजा गया और पीछे-पीछे जनता भी चली । प्रजा के इस झुण्ड मे से कोई कहता था कि मैं राजा के लिए इतना धन दे सकता हूँ । कोई कहता था कि मैं अपना सर्वस्व ही राजा के ऊपर न्योछावर करने को तैयार हूँ ।

विश्वामित्र चिन्तित भाव से बैठे हुए विचार कर रहे कि हाय ! मैं आया था क्या करने और क्या हो गया । मैंने विचारा तो था कि मैं हरिश्चन्द्र का मान मर्दन करूंगा, अपराध स्वीकार कराकर उसे दंड दूंगा और उस पर अपने तपोबल का प्रभाव प्रकट करके भविष्य में किसी ऋषि की और विशेषतः मेरी अवज्ञा न करने की प्रतिज्ञा कराऊंगा, लेकिन यहाँ तो मैंने अपने ही हाथों अपना मान मर्दन कर डाला, अपने ही मुख से स्वयं अपने लिए दंड मांग लिया और अपने आप ही हरिश्चन्द्र के सत्य से प्रभावित हो गया । एक मैं हूँ जो वृक्षों की छाया में रहने वाला, भिक्षान्न से निर्वाह करने वाला होकर आज चक्रवर्ती राजा बनने जा रहा हूँ और एक वह ससागर पृथ्वी का स्वामी महाराज हरिश्चन्द्र है जिसने प्रसन्नता के साथ अपना सर्वस्व मुझे देकर, ऊपर से ऋण लाद लिया है । हम दोनों में विजयी कौन हुआ—मैं या हरिश्चन्द्र? एक तो इस राज्य रूपी जेल से

छूटकर स्वतंत्र हो गया और दूसरा मैं जो अपनी स्वाधीनता को क्रोध-सागर में डुबा इस राज्य–रूपी जेल में आकर बन्दी हो गया हूँ। तपोबल और सत्यबल के संग्राम में किसको पराजय मिली ? हरिश्चन्द्र ! यद्यपि मेरा तपोबल तुम्हारे सत्यबल से परास्त हो गया, परन्तु मैं सहज में ही अपने तपोबल को कलंकित और तुम्हारे सत्यबल को प्रशंसित नहीं होने दूंगा। मैं अन्त तक अपने को कलंक से बचाने का उपाय करूँगा। यद्यपि क्रोध ने मेरा सर्वनाश कर दिया है, मुझे त्यागी से भोगी बना दिया है, मैं राजर्षि नहीं ब्रह्मर्षि भी हो जाऊँ तो क्या ? परन्तु मैं इस दुष्ट क्रोध पर विजय नहीं पा सका हूँ। फिर भी इस समय इस तरह पश्चात्ताप करूँगा और हरिश्चन्द्र को राज्य लौटा दूंगा तो संसार में मेरी निन्दा होगी तथा मुझे मार्ग चलना ही कठिन हो जाएगा।

विश्वामित्र इसी प्रकार के विचारों में निमग्न थे कि सेवक ने प्रजा के प्रतिनिधि मंडल के आने के सूचना दी। विश्वामित्र समझ गए कि ये लोग हरिश्चन्द्र के ही विषय में कुछ कहने आए होंगे। ये लोग निश्चित ही प्रशंसा के पात्र हैं परन्तु इस समय उनको मुझसे किसी भी बात की आशा करना व्यर्थ है, फिर भी उनकी बात सुनना उचित है। यह सोचकर उन्होंने प्रतिनिधि-मंडल के आने की आज्ञा दी।

प्रतिष्ठित प्रजाजनों के आने और उनके प्रणाम कर चुकने के पश्चात् विश्वामित्र ने कर्कशस्वर में पूछा—क्या है ?

प्रतिनिधि-मंडल के नेता ने उत्तर दिया—हम आपसे कुछ प्रार्थना करने आए हैं।

विश्वामित्र—कहो, क्या कहना है?

नेता—हमने सुना है महाराज हरिश्चन्द्र ने आपको राज्य दान में दिया है और आज से आप हमारे राजा हुए हैं।

विश्वामित्र—हाँ।

नेता—राजा का कर्तव्य है कि प्रजा के दुःखों को ध्यानपूर्वक सुनकर उन्हें दूर करने का प्रयत्न करे।

विश्वामित्र—तुम अपना दुःख तो कहो।

नेता—हमने सुना है कि जिसने अपना राज्य-वैभव एक क्षण में दान कर दिया, अपने स्त्री, पुत्र की भी किंचित् चिन्ता न की, उस महाउदार को आपने एक-सहस्र स्वर्ण-मुद्रा का ऋणी बनाकर यहाँ से चले जाने की आज्ञा दी है।

विश्वामित्र—शायद तुम लोगों को बात का अच्छी तरह पता नहीं नहीं है। हरिश्चन्द्र ने मेरे आश्रम की बंदिनी देवांगनाओं को छोड़ दिया था। जिसका मैं उपालम्भ देने आया और मैंने उससे केवल यही कहा कि तू अपना अपराध स्वीकार कर ले, परन्तु वह तो ऐसा निकला कि अपराध स्वीकार करना तो दूर रहा, उल्टे कहने लगा कि मैंने उन्हें दया करके राज-धर्मानुसार छोड़ा है। मैंने
दान देना भी है तो क्या तू अपना रा
सकता है? बस इसी पर

दिया है। अब तुम्हीं बताओ कि जो राजा ऋषियों के आश्रम की बन्दनियों को छोड़ दे, हठ में पड़कर अपना अपराध भी स्वीकार न करे और बात-की-बात में अपना राज्य दूसरे को सौंप दे, वह राज्य करने योग्य कैसे कहा जा सकता है?

नेता—उन्होंने आपको राज्य दान दिया है तो आप प्रसन्नतापूर्वक राज्य कीजिए, हमें इस विषय में कुछ भी नहीं कहना है। बल्कि हमारी प्रार्थना तो यह है आपने उनके ऊपर जो ऋण लाद रखा है, वह हमसे ले लीजिए। यदि अधिक लेने की इच्छा हो तो अधिक ले लीजिए, परन्तु यह स्वतंत्रता दे दीजिए कि उनकी जहाँ इच्छा हो, वहाँ रहें। उन्हें यहाँ से जाने के लिए बाध्य न कीजिए। हरिश्चन्द्र हमें पिता से भी अधिक प्रिय हैं; अतः उनके विषय में हमारी इस प्रार्थना को स्वीकार कीजिए। यदि आप हरिश्चन्द्र को यह स्वतंत्रता देने के बदले में हमारा सर्वस्व भी लेना चाहें तो हम इसके लिए भी तैयार हैं। साथ ही आपको हम यह भी विश्वास दिलाते हैं कि वे आपके राज-कार्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेंगे और राजमहल से दूर हम लोगों के घरों में शाँतिपूर्वक जीवन व्यतीत करेंगे।

विश्वामित्र—तुम लोग जो कुछ मुझसे कहते हो, तो वही बात हरिश्चन्द्र से क्यों नहीं कहते कि वह अपना अप-अपराध स्वीकार कर ले। मुझे राज्य की आवश्यकता नहीं है। उसके अपराध स्वीकार करते ही मैं राज्य उसी को लौटा दूंगा और फिर वह पहले की तरह ही आनन्द से यहीं

रहकर अपना राज्य करें।

नेता—हरिश्चन्द्र ने जब कोई अपराध ही नहीं किया है तो हम उनसे अपराध स्वीकार करने के लिए कैसे कह सकते हैं ?

विश्वामित्र—तुम लोग भी हरिश्चन्द्र की ही बुद्धि के मालूम पड़ते हो। हरिश्चन्द्र ने अपराध किया है, फिर भी तुम कहते हो कि किया ही नहीं।

नेता—खैर, किया होगा, हम इस बात की मीमांसा नहीं कराना चाहते। यदि उन्होंने अपराध किया है और उसे स्वीकार नहीं करते हैं तो इसका फल वे भोगेंगे, परन्तु उनका ऋण हमसे लेकर उन्हें यहीं रहने की आज्ञा देने में आपको क्या आपत्ति है ? हम तो आपसे यही प्रार्थना करते हैं कि आपको जब उन्हें कष्ट देना अभीष्ट नहीं है तो ऋण मुक्त करके यहाँ से चले जाने की अपनी आज्ञा भी लौटा लीजिए।

विश्वामित्र—मैंने जो कहा है, उसे तो तुम लोग समझते नहीं और अपनी ही कहे जाते हो। तुम हरिश्चन्द्र से ही क्यों नहीं कहते कि वह अपना अपराध स्वीकार कर ले। बस, फैसला हुआ। फिर न तो उसे कहीं जाने की ही जरूरत है और न राज्य छोड़ने की ही।

नेता—जब उन्हें राज्य का लोभ होगा, तब वे स्वयं ही अपना अपराध स्वीकार कर लेंगे। यदि अपराध स्वीकार न करेंगे तो राज्य भी नहीं पायेंगे। उन्हें ऋणमुक्त करके यहाँ रहने देने की बात से और अपराध स्वीकार करने से

तो कोई सम्बन्ध नहीं है और फिर ऐसा करने में आपको क्या आपत्ति है ?

विश्वामित्र इसका क्या उत्तर देते। अतः उन्हें अन्याय का ही आश्रय लेना पड़ा और प्रतिनिधि-मंडल की बात को सत्य समझते हुए भी उन्हें यही कहना पड़ा कि तुम लोग भी दुराग्रही हो, अतः यहाँ से निकल जाओ। मैं व्यर्थ की बातों में समय नहीं खोना चाहता।

विश्वामित्र की आज्ञा से उसी समय सेवकों ने इन सभ्य गृहस्थों को निकाल दिया। जाते समय इन लोगों ने विश्वामित्र के प्रति घृणा प्रकट करते हुए कहा—दुराग्रही हम नहीं बल्कि आप हैं, जो अपने राज्य-दाता को इस प्रकार कष्ट में डालने का प्रयत्न कर रहे हैं और झूठा अपराध स्वीकार करने के लिए विवश करते हैं।

प्रतिनिधि-मंडल की सफलता की आशा से नगर के शेष लोग राज-सभा के समीप ही खड़े थे। प्रतिनिधि-मंडल के बाहर निकलते ही सब लोग उसके पास आ गए, परन्तु उत्तर सुनकर सबको निराशा हुई। प्रजा कहने लगी कि आप लोगों का अपमान भी हुआ और सफलता भी न मिली।

नेता ने कहा—कार्य करना अपने अधिकार की बात है। रही अपमान की बात, सो जो विश्वामित्र अपने राज्य-दाता हरिश्चन्द्र को भी अपने राज्य से निकल जाने की आज्ञा दे सकता है तो वह हमें निकाल दे तो इसमें आश्चर्य की त ही क्या है ? आपको और हमें इसके लिए किंचित् भी

दुःख न मानना चाहिए ।

प्रतिनिधि-मंडल के असफल होने से प्रजा को बहुत दुःख हुआ । विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र के स्वभावों एवं न्यायकारिता आदि का तुलनात्मक विचार प्रजा के हृदय को विदीर्ण कर रहा था । उधर स्त्रियों में भी घर-घर यही चर्चा हो रही थी । वे तारा के स्वभाव आदि का स्मरण कर दुःखित हो रही थीं और सुकुमार रोहित का बार-बार विचार कर रही थीं । प्रतिनिधि-मंडल के साथ-साथ अब प्रजाजन राजा के महल के सन्मुख आकर एकत्रित हो गए और उनके महल से बाहर आने की प्रतीक्षा करने लगे ।

१४ . प्रणपूर्ति की राह पर

कुछ समय पहले के विशाल राज्य के अधिपति राजा हरिश्चन्द्र, रानी तारा और राजकुमार रोहित इस समय दीन से भी दीन हैं तथा वे विश्वामित्र जो थोड़ी देर पहले वनवासी थे, भिक्षा ही जिनका आधार था, इस समय ससागर पृथ्वी के स्वामी बन गये हैं। संसार की यह परिवर्तनावस्था होते हुए भी जो सुख-वैभव पर घमण्ड करते हैं या जो अपने दुःख से कातर होते हैं, उन्हें अज्ञानी मानने के सिवाय और कुछ नहीं कहा जा सकता है। यह संसार चक्र के समान परिवर्तनशील है। जो आज बालक हैं वे ही कल बुड्ढे दीख पड़ेंगे, जो आज सुखी है, वही कल दुःखी हो सकता है और जो दुःखी है वह सुखी भी हो सकता है। इसलिए ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि न तो सुख में हर्षित होओ और न दुःख में घबराओ?

राजा हरिश्चन्द्र, तारा और रोहित के साथ राजसी वेश को छोड़कर राजमहल से बाहर निकले। हरिश्चन्द्र के जिस मस्तक पर स्वर्ण मुकुट शोभित होता था, आज उसी पर केशों का मुकुट है। जिस शरीर पर बहुमूल्य वस्त्राभूषण रहते थे, आज उसी पर केवल एक पुराना वस्त्र है और

जिसमें से आधे से शरीर का ऊपरी भाग ढांके हुए हैं । रानी और रोहित भी इसी वेश में हैं । तीनों के शरीर पर आभूषण नहीं बल्कि उनके चिन्ह-मात्र दिखलाई पड़ते हैं। इतना होने पर भी इनके चेहरे पर असाधारण तेज झलक रहा है।

मनुष्य की स्वाभाविक सुन्दरता या कुरूपता, किसी समय और किसी वेश में नहीं छिपती । उपाय करने पर भी नहीं छिपती । तपस्वी का शरीर यद्यपि दुर्बल होता है, वस्त्र भी विशेष प्रकार के नहीं रहते, फिर भी उसके तेज और सुन्दरता की समता अनेक वस्त्रालंकारधारी दुराचारी का शरीर कदापि नहीं कर सकता । इसी प्रकार इस समय हरिश्चन्द्र, तारा और कुमार रोहित दीनवेश में थे, लेकिन उनका तेज इस वेश में भी शोभा दे रहा था ।

हरिश्चन्द्र, तारा और रोहित, तीनों राजमहल से निकल कर विश्वामित्र के समीप आये । विश्वामित्र इन लोगों को देखकर विचारने लगे कि क्या यह वही राजा है जो अवध के राजसिंहासन पर बैठता था, जिसके सिर पर मुकुट शोभा पाता था, जिसके ऊपर चंवर ढुला करते थे और छत्र—छाया किये रहता था । क्या यह वही रानी है जो बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत रहती थी, अनेक दासियाँ जिसकी सेवा में उपस्थित रहती थीं, क्या यह वही महारानी तारा है जो महलों में उसी प्रकार शोभित होती थी जैसे आकाश में चन्द्रमा। क्या यह वही बालक है जिसके लिए संसार के बहुमूल्य पदार्थ भी तुच्छ माने जाते थे, जो अवध का भावी-शासक कहलाता

था और जिससे प्रजा भविष्य की अनेकानेक आशाएं करती थीं। वही राजा, वही रानी और वही बालक आज इस वेश में हैं, फिर भी चेहरे पर विषाद की रेखा नहीं है। राजा ने तो मुझे सब दान कर दिया है इसलिए उसका ऐसा करना तो कोई विशेषता नहीं रखता है, परन्तु रानी तो उससे भी बढ़कर निकली। इस वेश में भी ललाट पर सुहाग बिन्दी कैसी शोभा दे रही है, जैसे आभूषण में जड़ा हुआ रत्न हो। मैं तो विचारता था कि रानी स्त्री-स्वभावानुसार दुःख से भयभीत हो पति के इस कार्य का विरोध करेगी, परन्तु धन्य है इसे जो इस दशा में भी पति का सहयोग करने जा रही है।

राजा, रानी और रोहित ने विश्वामित्र के निकट आकर प्रणाम किया और राजा हरिश्चन्द्र ने विनीत होकर कहा—महाराज, अब हमें आशीर्वाद दीजिये। मैं आज अपनी प्राणों के समान प्रिय प्रजा को आपके हाथों में समर्पित कर रहा हूँ। आज से प्रजा के पिता, प्रभु, पालक तथा रक्षक आदि सब कुछ आप ही हैं। आशा करता हूँ कि आप इस पर प्रेम-पूर्वक वैसे ही शासन करेंगे, जैसे पिता पुत्र पर करता है।

विश्वामित्र ने राजा के कथन को सुन तो लिया परन्तु आत्मग्लानि के मारे सिर ऊपर न उठा सके। पहले तो विचार कर रहे थे कि जाते समय मैं राजा को यह कहकर अपमानित करूंगा कि तुम्हारे, तुम्हारी स्त्री या पुत्र के शरीर पर यह वस्तु है, जिसे रखने का तुम्हें अधिकार नहीं है। लेकिन राजा ने अपने, तारा और बालक के शरीर पर लज्जा

की रक्षा के हेतु केवल एक-एक वस्त्र रखा है और वह भी पुराना। इसके सिवाय उनके पास कोई भी ऐसी वस्तु न थी, जिसके लिए विश्वामित्र को कुछ कहने का अवसर मिले। यहाँ तक कि पैरों में जूते भी नहीं थे।

विश्वामित्र को सिर नीचा किये देख और उनके ऐसे करने के कारण को समझकर बिना किसी उत्तर की प्रतीक्षा किए ही महाराज हरिश्चन्द्र रानी तथा रोहित को लेकर चल दिए। बाहर आते ही प्रजा उनके साथ हो चली। आगे-आगे राजा और उनके पीछे गोद में रोहित को लिए हुए रानी अपने पूर्वजों की राजधानी अयोध्या से बाहर निकले। साथ के स्त्री-पुरुष इनके वियोग के दुःख से विलाप कर रहे थे। परन्तु राजा-रानी के मुख पर विषाद की एक रेखा तक भी न थी। हरिश्चन्द्र और तारा ने सब स्त्री-पुरुषों को लौट जाने के लिए कहा, परन्तु ऐसे समय में उनके कथन को कौन सुनता था। सब लोग साथ-ही-साथ नगर से बाहर आए। राजा इन लोगों को लौटते न देख चिन्तित हुए कि कि यदि ये लोग मेरे साथ आए तो बड़ा अनर्थ होगा। विश्वामित्र इसके लिए मुझे ही अपराधी ठहराकर कहेंगे कि मेरे राज्य को निर्जन बनाने का उपाय कर रहा है। अनेक प्रकार से समझाने पर भी जब वे लोग न लौटे तो राजा और रानी नगर के बाहर आकर एक स्थान पर ठहर गए। नगर के सब पुरुष हरिश्चन्द्र को और स्त्रियाँ तारा को घेर कर खड़ी हो गईं। पुरुष तो राजा से कह रहे थे कि आप

यहीं रहिए, यहाँ से न जाइए। विश्वामित्र के राज्य से हम लोगों को कष्ट होगा। आपका ऋण हम दिए देते हैं। आप राज-कार्य न करके यदि शान्ति से बैठे भी रहेंगे, तब भी अन्याय न हो सकेगा। यदि आप जाते ही हैं तो हम लोग भी आपके साथ चलेंगे। हमारे लिए अयोध्या वहीं है, जहाँ आप हैं। आपके बिना अयोध्या भी हमें नरक के समान दुःखदायी होगी।

हरिश्चन्द्र के पास तो पुरुषवृन्द इस प्रकार विनय कर रहा था और उधर राजपुरोहित, प्रधान तथा नगर के अन्य-अन्य प्रतिष्ठित पुरुषों की स्त्रियाँ तारा से कह रही थीं कि आपने तो राज्य नहीं दिया है तो फिर आप क्यों साथ जा रही हैं? राजा ने राज्य दिया है और उन्हें विश्वामित्र नहीं रहने देते तो उनका जाना ठीक भी है, परन्तु आप क्यों जाएँ? आपके जाने की तैयारी देखकर हमें बहुत दुःख हो रहा है, अतः हमारी प्रार्थना है कि आप यहीं रहें। यदि विश्वामित्र आपको राजमहल में नहीं रहने देंगे तो आप हमारे यहाँ रहें, परन्तु आपका जाना किसी भी प्रकार से उचित नहीं है। यदि आप न मानेंगी तो हम भी आपके साथ-साथ चल देंगी।

साथ में आने वाला प्रत्येक पुरुष और स्त्री इसी प्रकार राजा और रानी से कह रहा था। सबको पृथक्-पृथक् कब तक समझाया जाएगा, इस विचार से दोनों ने भाषण द्वारा ही प्रजा को समझाना उचित समझा। राजा

ग्रौर रानी अलग-अलग एक-एक टीले पर खड़े हो गए ग्रौर जिस टीले पर राजा खड़े थे वहाँ पुरुष ग्रौर जिस पर रानी खड़ी थीं वहाँ स्त्रियाँ टकटकी लगाए उनके मुंह की ग्रोर देखने लगीं ।

१५. विदाई-संदेश

लोगों पर उपदेश का प्रभाव या तो भय से पड़ता है या प्रेम से। भय द्वारा जो उपदेश मनवाया जाता है वह तभी तक अपना प्रभाव रख सकता है, जब तक कि भय है। लेकिन जिस उपदेश का प्रभाव प्रेम से होता है यह नष्ट नहीं होता, वरन् उत्तरोत्तर वृद्धि करता जाता है। उदाहरणार्थ एक राजा उपदेश दे जो किसी विशिष्ट शक्ति से संपन्न हैं और एक त्यागी दे, जिसमें राजा के समान कोई शक्ति नहीं है तो इन दोनों में से राजा का उपदेश तभी तक माना जाएगा जब तक उसमें शक्ति है। लेकिन त्यागी यदि स्वयं भी न रहे तब भी उसका उपदेश नष्ट न होगा। सारांश यह कि प्रेमपूर्वक दिया हुआ उपदेश उत्कृष्ट है लेकिन उसके लिए यह आवश्यक है कि उपदेशक स्वयं वैसा आचरण करके आदर्श स्थापित करे, त्याग दिखाए। जब तक वह स्वयं त्याग नहीं दिखलाता, केवल दूसरों को ही उपदेश देता है, तब तक उसके उपदेश का भी कोई प्रभाव नहीं होता।

वक्ता पर जब श्रोताओं की अपूर्व श्रद्धा होती है, तभी वे ध्यानपूर्वक उपदेश सुनते हैं। जहाँ वक्ता के प्रति लोगों के हृदय में श्रद्धा का अभाव है वहाँ वक्ता का कर्तव्य

और श्रोता का श्रवण, दोनों ही निरर्थक जाते हैं। महाराज हरिश्चन्द्र पर जनता की अपार श्रद्धा थी, अतः उनके वक्ता बनकर खड़े होने पर श्रद्धा से ओतप्रोत जनता ध्यानपूर्वक अपने हितैषी महाराज का उपदेश सुनने लगी।

पुरुषों से घिरे हुए टीले पर खड़े होकर महाराज उनसे कहने लगे—

मेरे प्यारे भाइयो ! आप लोग मेरे साथ यहाँ तक आए और मेरे वियोग से दुःखित हो रहे हैं तथा मेरे साथ सहानुभूति प्रकट कर रहे हैं, यह आप लोगों का अनुग्रह है लेकिन आप इस बात पर विचार कीजिए कि मुझसे आप लोगों को इतना प्रेम होने का कारण क्या है ? भाइयो ! यह प्रेम मुझसे नहीं किन्तु सत्य से है। जिस हरिश्चन्द्र के लिए आप इतने दुःखित हो रहे हैं, आंसू बहा रहे हैं, यहाँ तक कि अपना घरबार छोड़कर जिसके साथ जाने को तैयार हैं, यदि वही हरिश्चन्द्र अत्याचारी होता, अपने स्वार्थ के लिए आप लोगों को दुःख में डालता, आपके अधिकारादि की अवहेलना करता, दुराचरण में पड़कर यही राज्य किसी वेश्या को दे देता तो आप लोग मेरे जाने से प्रसन्न ही न होते किन्तु स्वयं भी मेरे निकालने का उपाय करते। लेकिन मैंने सत्याचरण किया है, अपने कर्तव्य का पालन करते हुए इस राज्य को दान में दिया है, इसी से आप लोगों की मेरे प्रति श्रद्धा है। ऐसी अवस्था में आप लोगों का मुझसे यहीं रहने का आग्रह करना उचित ही है। लेकिन मेरे यहीं रहने

से जो प्रतिज्ञा मैंने की है वह भंग होगी और प्रतिज्ञा भंग करना असत्याचरण है । मैं अब तक आपका राजा रहा हूँ अतः मेरा इस प्रकार सत्यपालन में कायरता दिखाना आप लोगों के लिए भी शोभा की बात नहीं है ।

अब आप लोग साथ चलने को कहते हैं, परन्तु आप लोग ही विचारिए कि मेरे साथ चलने से और नगर को जनशून्य बना देने से सत्य कलँकित होगा या उसकी प्रतिष्ठा बढ़ेगी ? विश्वामित्र ने मुझे केवल स्त्री-पुत्र को साथ ले जाने की आज्ञा दी है, आप लोगों को ले जाने की नहीं । इसलिए आप लोगों के साथ चलने का अर्थ यही हुआ कि या तो मैंने विश्वामित्र को राज्य नहीं दिया या उनसे जो प्रतिज्ञा की वह भंग की है । मैं आप लोगों से प्रार्थना करता हूँ कि आप लोग प्रसन्नतापूर्वक यहीं रहें और मेरी चिन्ता न करें। प्रेम साथ-साथ चलने के बाह्य-आचरण से नहीं बल्कि सत्य-पालन के आन्तरिक-आचरण से किया जाना उचित है। यदि आप लोगों का मुझ पर प्रेम है तो मैं आपसे यही कहता हूँ कि जिस सत्य के लिए मैंने अपने पूर्वजों के राज्य को दान कर दिया और अपनी राजधानी तथा आप लोगों को छोड़ कर जा रहा हूँ, उसी सत्य के पालन में तत्पर रहें । उसके पालन में होने वाले कष्टों से भयभीत न होवें ।

बन्धुओ ! आज तक मैं राजा रहा और आप लोगों पर शासन करता, परन्तु आज से विश्वामित्र राजा हुए हैं। वे शासन करेंगे । मैं आशा करता हूँ कि आप लोग

उन्हें भी वैसा ही सहयोग प्रदान करते रहेंगे, जैसा कि मुझे करते रहे हैं।

अब आप लोग जो यह कहते हैं कि हमें विश्वामित्र के शासन में दुःख होगा, तो मित्रों यह आपके हृदय की दुर्बलता है। आज मैं राज्य को दान में देकर जा रहा हूँ इसलिए आप लोग मुझे ऐसा कह रहे हैं, किन्तु यदि मेरी मृत्यु हो जाती तो दूसरा शासक आप पर शासन करता या नहीं? वह शासक भी यदि आप लोगों पर अत्याचार करता तो आप किससे कहते? भाइयो! दुःख केवल दुर्बल आत्मा को हुआ करता है, सबल आत्मा वाले मनुष्यों के तो दुःख कभी समीप ही नहीं फटकता। आप लोग सत्य का संचय करके बलवान बनिए, फिर किसी की क्या शक्ति है जो आपको दुःख दे सके। राजा तथा प्रजा का तो ऐसा संबंध है कि प्रजा पर अत्याचार करने वाला राजा एक क्षण भी राज्यासन पर नहीं ठहर सकता। पहले तो विश्वामित्र स्वयं ही बुद्धिमान हैं, इस समय वे क्रुद्ध होकर चाहे जो कुछ कहें, परन्तु वे नीतिज्ञ हैं, इसलिए प्रजा पर कदापि अत्याचार न करेंगे। मान लो कि उन्होंने कभी अत्याचार किया भी तो आप सत्याग्रह कर विश्वामित्र के अत्याचार का प्रतिकार कर सकते हैं। अत्याचार के भय से भागना वीरों का नहीं, कायरों का काम है। वीर लोग तो सदा अत्याचार का प्रतिकार ही करते हैं। आप सूर्यवंशी राजाओं की प्रजा हैं, अतः इस प्रकार कायर बनकर उन्हें कलंकित

करना आप लोगों को किसी प्रकार भी शोभा नहीं देगा।

प्रियवरो ! अपना राज्य, अपना देश, अपनी प्रजा और अपनी राजधानी मैं और किसी समय इतने आनन्द से नहीं छोड़ सकता था, जितने आनन्द से आज छोड़ रहा हूँ। अन्य किसी समय यदि कोई मुझसे छुड़ाना भी चाहता तो मैं उस छुड़ाने वाले का प्रतिकार करता, उससे युद्ध करता और उस युद्ध में मैं स्वयं ही आप लोगों से सहायता लेता। परन्तु मैं सत्यपालन के लिए उन सब चीजों को—जिन्हें कि मैं अन्त समय तक किसी दूसरे को न लेने देता— आज प्रसन्नतापूर्वक छोड़ रहा हूँ। कर्तव्य और सत्य के आगे राज्य वैभव, सुख तृण के समान हैं और वन-वन के महान् कष्ट राज-सुख की अपेक्षा अत्यधिक सुख-दाता हैं। जिस सत्य और कर्तव्य के लिए मैं इन सबको छोड़ रहा हूँ, उस सत्य और कर्तव्य का आप लोग भी पालन करेंगे। उस समय आप भी जानेंगे कि सत्य और कर्तव्य के आगे राज-वैभव कितना तुच्छ है।

अब मैं आप लोगों से यही कहता हूँ कि आप लोग सत्यपालन में मेरी सहायता कीजिए। आप लोगों का घर लौट जाना ही उचित है। मुझे आज ही अवध की सीमा को छोड़ना है और सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा है। यदि समय पर सीमा पार न कर सका तो प्रतिज्ञा-भ्रष्ट होऊँगा। जो मेरे साथ ही आपके लिए भी कलंक की बात है। मैं आशा करता हूँ कि आप लोग मेरे साथ एक कदम भी न

चलकर अपने-अपने घर लौट जाएंगे । आपके भूतपूर्व राजा की आपसे यही अन्तिम प्रार्थना है कि आप साथ चलकर मेरे सत्य को कलंकित न करें। मेरा आपको यही आशीर्वाद है और आप भी मुझे यही आशीर्वाद दीजिए कि हम लोग सत्य-पालन में दृढ़ रहें।

हरिश्चन्द्र के इस भाषण को लोग चुपचाप सुनते हुए आँखों से आंसू बहाते रहे। पशु-पक्षी और वृक्ष भी हरिश्चंद्र के इस यथार्थ परन्तु करुणापूर्ण भाषण को सुनकर जड़वत् खड़े हो गए तो सहृदय मनुष्यों में यह शक्ति कब हो सकती थी कि वे हरिश्चन्द्र के कथन का कुछ प्रतिवाद करते।

दूसरी ओर तारा की सखियाँ और अन्यान्य स्त्रियाँ अपने नेत्रों के जल से तारा के चरण धोती हुई प्रार्थना कर रही थीं कि आप न तो राज्य देने में ही साथ थीं, न दक्षिणा का मौखिक-ऋण लादने में ही, फिर आप क्यों जाती हैं ? उनके इस प्रकार प्रार्थना करने पर तारा बोलीं—

मेरी प्यारी माताओ, बहनो तथा पुत्रियो ! यद्यपि मैं आज आप लोगों से एक अनिश्चित समय के लिए बिछुड़ रही हूँ, परन्तु यह सौभाग्य की बात है कि मैं पति की सेवा के लिए जा रही हूँ। मेरे साथ ही आप लोगों के लिये भी यह प्रसन्नता की बात होनी चाहिए कि आपकी ही जाति में से तारा नाम की एक क्षुद्र स्त्री पति की सेवा के लिए अपने सब सुखों को छोड़ रही है। यद्यपि आप लोग पतिव्रत के नियमों की जानकार हैं, तथापि इस समय वियोग के दुःख में पड़

उन्हें भूल रही हैं। लेकिन आप विचारिये तो सही कि जब मैं उनकी अर्द्धांगिनी हूँ तो जो दान उन्होंने दिया, क्या वही दान मैंने नहीं दिया है? जो ऋण उन पर है, क्या वही मुझ पर नहीं है? फिर वे तो कष्ट सहें और मैं कष्ट से बचने के लिये यहाँ रह जाऊ, यह कैसे उचित है! सुख के समय पति के साथ रहकर दुःख के समय साथ छोड़ देना क्या पतिव्रता के लिए उचित है? बहिनो! आप लोग तो अपने धर्म पर स्थिर रहें अर्थात् पति की सेवा करें और मुझे पति की सेवा-त्याग का उपदेश दें, यह आप लोगों को शोभा नहीं देता है। आप मेरे लिये जो प्रेम दर्शा रही हैं, वह सब पतिसेवा का ही प्रताप है। यदि मैं पतिसेवा से विमुख होकर आपके पास आती और कहती कि मुझे स्थान दें, तो सम्भवतः ही नहीं बल्कि निश्चय ही मेरा तिरस्कार करके मुझे पतित-से-पतित समझतीं और घृणा की दृष्टि से देखतीं। लेकिन पतिसेवा के लिए मैं सब सुखों को छोड़कर उनके साथ जा रही हूँ, इसी से आप लोग मुझ से यहाँ रहने के लिए आग्रह कर रही हैं। जिस पति-सेवा का यह प्रताप है, उसे मैं कदापि नहीं छोड़ सकती और आपसे भी यही प्रार्थना करती हूँ कि आप लोग यह अनुचित आग्रह न करें। स्त्री का धर्म केवल पतिसेवा है। वस्त्राभूषण आदि पतिसेवा के सन्मुख तुच्छ है।

बहिनो! इस समय महाराज का साथ छोड़ देने से मैं तो कलंकिनी होऊंगी ही, परन्तु साथ ही समस्त स्त्री-जाति भी कलंकित होगी। मेरे साथ ही सब लोग स्त्री-जाति मात्र

को धिक्कारेंगे और कहेंगे कि स्त्रियाँ स्वार्थी और कपटी होती हैं। वे तभी तक का साथ देती हैं जब तक पति सुखी है, धन-वैभव संपन्न है। धन के न रहने पर और पति के ऊपर किसी प्रकार का कष्ट आते ही वे पति को छोड़ देती हैं। मैं केवल दुःखों के भय से अपने साथ ही समस्त स्त्रीजाति को यह कलंक नहीं लगने दे सकती। मैं पति के साथ वन-वन भटक कर कष्टों को सहती हुई पति की सेवा करके संसार को यह दिखा देना चाहती हूँ कि कैसी भी विषम अवस्था हो, स्त्रियाँ पति की सेवा नहीं छोड़ती है। जो पुरुष स्त्रियों को धूर्त आदि समझकर अपमानित करते हैं, उन्हें भी मेरे चरित्र से मालूम होगा कि स्त्रियाँ क्या हैं और उनका अपमान करके हम कितना अन्याय करते हैं।

बहनो! आपका मुझ पर जो प्रेम है, वह अवर्णनीय है। इस प्रेम का कारण मेरी पतिसेवा ही है। इसलिए मेरा आपसे यही कहना है कि आप लोग पति की सेवा में सदा रत रहें, पति से अधिक प्रेम रखें और अन्याय धार्मिक कार्यों की अपेक्षा पति-सेवा को अधिक महत्त्व दें। स्त्री के लिए पति-सेवा से बढ़कर दूसरा कोई नैतिक-धर्म नहीं है।

बहनो! अब आप लोग मेरे साथ चलने के विचारों को त्यागकर मेरे प्रति अपने प्रेम का परिचय पति की सेवा द्वारा दीजिये। जिन बहनों के पति नहीं हैं वे परमात्मा का ध्यान करें और अपना सारा समय उसी के भजन में व्यतीत करें।

बहनो ! दिन ढ़लता जा रहा है, इसलिए आप लोग मुझे आशीर्वाद देकर विदा कीजिये। मैं आपसे केवल यही आशीर्वाद मांगती हूँ कि किसी भी समय और किसी भी अवस्था में मैं पतिसेवा से विमुख न होऊं। लेकिन आप लोग इस बात को ध्यान में रखें कि आशीर्वाद उन्हीं लोगों का फलदायक होता है जो स्वयं भी उसके अनुसार कार्य करते हों।

तारा के इस भाषण ने सब स्त्रियों को आश्चर्य-चकित कर दिया। वे चित्रलिखित-सी रह गईं और अपने आपको धिक्कारने लगीं। कुछ स्त्रियाँ तारा को आभूषण भेंट देने लगीं परन्तु तारा ने उन्हें यह कहकर लेने से इनकार कर दिया कि मेरे आभूषण मेरे पति हैं और वे मेरे साथ ही हैं। यदि उनकी अपेक्षा इन आभूषणों को मैं बड़ा समझती तो मैं अपने पास के आभूषणों को ही क्यों छोड़ जाती ?

अवध-निवासी स्त्री-पुरुषों में से बहुतों की इच्छा राजा-रानी के साथ चलने की थी परन्तु दोनों के भाषणों को सुन कर उनके विचार बदल गये। उनके साथ जाने की अपेक्षा अयोध्या में रहकर सत्य और कर्तव्य के पालन को ही उन्होंने अच्छा समझा। सब ने प्रसन्नचित्त होकर महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी तारा की जय का घोष करते हुए उन्हें विदा किया।

महाराज हरिश्चन्द्र, रोहित और रानी तारा इस कोलाहलमय जनसमूह से बाहर निकलकर वन की ओर चले। उन्हें इस प्रकार जाते देख सब लोग विलाप करने लगे। इन

लोगों के विलाप को सुनकर पशुपक्षी भी विकल होने लगे और राजा-रानी की भी आंखें भर आईं।

जिनकी सवारी के लिए अनेक वाहन उपस्थित रहते थे, महल से बाहर निकलने पर हजारों सेवक साथ होते थे, जिनके आगे-आगे बन्दीजन यशगान करते चलते थे, जिनको प्रणाम करने के लिए प्रजा मार्ग पर पंक्तिबद्ध खड़ी होती थी, आज वे ही राजा-रानी पैदल, नंगे पांव और अकेले जा रहे थे। वे रानी जो आभूषणों के भार से ही थकी-सी प्रतीत होने लगती थीं, आज बालक रोहित को गोद में लिए पति के पीछे-पीछे चल रहीं थीं। जिनके पैर रखने के लिए पुष्प बिछाये जाते थे, वे ही आज कंटीले और पथरीले मार्ग पर चल रही थीं। इतना कुछ होते हुए भी दम्पत्ति के मुंह पर चिन्ता की रेखा तक नहीं थी।

जब तक राजा और रानी दिखते रहे तब तक प्रजा बराबर टकटकी बाँधकर उन्हें देखती और विलाप करती रही और जब वे ओझल हो गए तब सब लोग मन मारकर घर की ओर लौटे, जैसे कोई अमूल्य पदार्थ खोकर लौटे हों।

१६ . अवध को अंतिम प्रणाम

संसार का नियम है कि दुःखी आदमी अपने दुःख से उतना नहीं घबराता जितना एक सुखी मनुष्य दुःख पड़ने पर घबराता है। जो नीचे ही है, यदि वह गिरे तो उसे उतनी चोट नहीं पहुंचती जितनी ऊपर से गिरने वाले को पहुंचती है। इसी के अनुसार हरिश्चन्द्र और तारा, जिन्हें आज की अवस्था की कभी कल्पना न थी, जो यह भी नहीं जानते थे कि नंगे पांव चलना कैसा होता है। उनको आज इस कण्टकाकीर्ण पथ पर चलने से अधिक कष्ट होना चाहिए था, परन्तु उनको नाममात्र का भी दुःख नहीं था वरन् प्रसन्नचित्त थे।

पुत्र सहित राजा-रानी अवध को अन्तिम प्रणाम कर काशी जाने के लिए वन की ओर चल दिए। मार्ग में रोहित को कभी राजा लेते थे तो कभी वह स्वयं ही पैदल चलने लगता था। राजा और रानी के कोमल पैरों में कांटे और कंकर चुभते जाते थे, जिससे खून निकल-निकल कर पैरों में इस प्रकार लग रहा था जैसे पांवों में महावार लगाया हो।

प्रजा के समझाने-बुझाने में राजा और रानी का

बहुत समय लग गया था और थोड़ी दूर जाते ही शाम पड़ गई।

अंधियारी काली रात में भयानक जंगल सांय-सांय कर रहा था। जो राजा-रानी सदा मधुर-मधुर बाजों और गानों को सुना करते थे, वे ही आज वन के पशुओं के स्वर सुन रहे थे। जो बालक रात के समय हिंडोले में झूला करता था, वही कभी माता और कभी पिता की गोद में चिपटा जा रहा था और उन पशुओं के स्वर तथा सन्नाटे में वृक्षों की झुरमुराहट सुन रहा था। जब कभी अंधेरे में किसी का पांव ऊँचा-नीचा पड़ता तो पति पत्नी का और पत्नी पति का हाथ पकड़कर एक-दूसरे की सहायता करते जाते थे। यद्यपि राजा और रानी, दोनों के पैर कांटे लगने से लोहू-लुहान हो गए, किन्तु दोनों ही चुप थे। रानी तो यह विचार कर चुप थीं कि कहूँगी तो पति के हृदय को दुःख होगा और कहेंगे कि मेरे कारण इसे दुःख हो रहा है और राजा विचारते थे कि जो कष्ट मुझे हो रहे हैं, वे ही रानी को भी होते होंगे और फिर रानी स्त्री होते हुए भी इन कष्टों को सह रही, जबकि मैं तो पुरुष हूँ। मैं क्यों कायरता प्रकट करूँ। रानी तो स्वयं कष्ट सहकर मेरे लिए एक आदर्श उपस्थित कर रही है।

बालक को लिए हुए दोनों पथिक जैसे-तैसे एक वृक्ष के समीप पहुंचे। दिन भर के भूखे तो थे ही, इस समय भी पास कुछ खाने को न था, जो खाते। इसलिए चुपचाप

उसी वृक्ष के नीचे सो रहे। हिंसक पशुओं की रक्षा के लिए बारी-बारी से कुछ देर राजा जागते रहे और कुछ देर रानी। इस प्रकार अनेक सेवकों से सुरक्षित महलों में रहने वाले, कोमल शैया पर सोने वाले राजा-रानी और रोहित ने कुछ देर सोकर और कुछ देर जागकर रात बिताई।

अरुणोदय के समय राजा-रानी उठ बैठे और परमात्मा का स्मरण करके आत्म-चिन्तन में लीन हो गए। जहाँ अन्य लोग दुःख के समय परमात्मा को कोसने लगते हैं, वहाँ हरिश्चन्द्र और तारा धन्यवाद दे रहे थे। वे लोग अपने आपको कष्ट में नहीं समझ रहे थे, किन्तु समझ रहे थे कि हम सत्य की परीक्षा दे रहे हैं।

परमात्मा को स्मरण करने के पश्चात् राजा और रानी रोहित को लेकर फिर मार्ग तय करने लगे। बारह पहर से अधिक व्यतीत हो चुके थे, परन्तु अभी तक अन्न का एक दाना भी उनके मुंह में नहीं गया। कुछ दूर चलने पर बालक स्वभावानुसार रोहित को भूख लगी। भूख तो कल भी लगी थी, जो सह्य थी किन्तु आज भूख असह्य हो गई थी। वह तारा से खाने के लिए मांगने लगा परन्तु तारा के पास आश्वासन के सिवाय और क्या था जो उसे देतीं। बालक के अधिक कहने-सुनने पर तारा ने थोड़े से जंगली फल तोड़कर रोहित को दिए परन्तु उसे वे कब अच्छे लग सकते थे, जो वह खाता। उसने फलों को चखकर फेंक और माँ से फिर खाने को माँगने लगा।

कण्ठ सूखा जा रहा था और ऊपर से बालक की क्षुधा का दुःख उन्हें और भी अधीर कर रहा था । वे चलते-चलते एक वृक्ष के नीचे मूर्छित होकर गिर पड़े । तारा पति की यह दशा देखकर घबरा उठीं । रोहित ऐसी हालत में अपनी भूख भूल गया और तारा से पूछने लगा कि—पिताजी क्यों गिर गए ? तारा ने रोहित को राजा के पास बैठा दिया और उसके हाथ में पत्ते देकर कहा—बेटा, जरा तुम इन पत्तों से अपने पिता के मुंह पर हवा तो करो। रोहित अपने छोटे-छोटे हाथों से हवा करने लगा और रानी राजा के लिए जल की चिन्ता करने लगीं ।

आवश्यकता आविष्कार की जननी है । घर बनाना, भोजन बनाना, कपड़े बनाना आदि प्रत्येक आविष्कार आवश्यकता के कारण ही हुए हैं । आवश्यकता का अनुभव किए बिना किसी आविष्कार की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। रानी यद्यपि राजमहल की रहने वाली थीं, वन कैसा होता है, उसके वृक्ष कैसे होते हैं तथा उन पर किस प्रकार चढ़ा जाता है और दोने किस प्रकार बनाये जाते हैं आदि बातें वे नहीं जानती थीं, लेकिन जल की आवश्यकता ने उन्हें वृक्ष पर चढ़ना और दोना बनाना भी सिखा दिया । रानी को जब इधर-उधर जल दिखाई न पड़ा, तब वे एक वृक्ष पर चढ़कर जलाशय देखने लगीं । थोड़ी दूरी पर उन्हें एक सरोवर दिखलाई पड़ा । वे वृक्ष से उतरकर दौड़ती हुई उस सरोवर पर पहुंची और कमल के पत्ते का दोना बनाकर जल भरकर

पति के पास लाईं।

रानी को पैदल चलने का यह पहला ही अवसर था, दो-दो दिन की भूखी थीं और पैरों में कांटे-कंकर चुभने से असह्य पीड़ा का अनुभव कर रही थीं, परन्तु इन सब बातों की कुछ भी परवाह न कर वे पति के लिए दौड़कर जल ले आईं। यदि आज की स्त्रियों की तरह तारा भी होतीं तो सम्भवतः पहले तो इन सब दुःखों को सहन करने के लिए तैयार ही न होतीं और कदाचित तैयार भी हो जातीं तो वन के मध्य पति की इस दशा को देखकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जातीं। परन्तु तारा ने ऐसी अवस्था में भी धैर्य और दृढ़ता न छोड़ी

रानी ने जल लाकर पति के मुँह पर छिड़का। शीतल जल के छींटों से राजा की मूर्छा दूर हुई और आंखें खुलीं एवं रानी के अनुरोध पर थोड़ा-सा जल पिया।

राजा ने जल पिया और शांति मिलने पर रानी से पूछा—प्रिये! इस निर्जन वन में यह जल तुम कहाँ से लाईं? इसने तो मेरे लिए अमृत का काम किया है।

तारा—प्रभो! मैं इसे समीप ही के एक सरोवर से लाई हूँ।

हरिश्चन्द्र—प्रिये! मैं तुम्हें साथ नहीं ला रहा था परन्तु अब अनुभव करता हूँ कि यदि तुम साथ न होतीं तो मेरी दुःख की नाव पार नहीं जा सकती थी। तुम मेरे लिए अद्वितीय सुखदात्री सिद्ध हुई हो।

राजा की बात सुनकर तारा इस आपत्ति के समय मे भी हंस पड़ीं - स्वामिन् ! मेरे पास सुख है, तभी तो मैं सुखदात्री हूँ।

हरिश्चन्द्र—हाँ, यदि तुम्हारे पास सुख न होता तो तुम सुखदात्री कैसे हो सकती थीं ?

तारा—प्रभो ! आप दुःख से घबरा जाते हैं अतः आपके पास जो दुःख है वह मुझे दे दीजिये और मेरे पास जो सुख है वह आप ले लीजिए।

हरिश्चन्द्र—यह कैसे हो सकता है ? सुख-दुःख कोई ऐसे पदार्थ तो हैं नहीं जो बदल लिए जाएं। मुझे तो आश्चर्य होता है कि तुम इस दशा में भी अपने को सुखी मान रहीं हो सुख को दुःख से बदलने का उपाय क्या है, उसकी कुंजी क्या है यह बताओ और यह भी बताओ कि तुम ऐसे कष्ट सहती हुई भी अपने आपको सुखी कैसे मान रही हो तथा दुःख में घबराहट क्यों नहीं होती है ?

तारा—नाथ ! जिस समय आपने राज्य दान करने का सुनाया, उस समय दुःख मुझे पीसने आया था। परन्तु मैंने जान लिया कि यह मेरा शत्रु है। शत्रु के समझ लेने पर सब उससे सावधान रहते और उसे जीतने का उपाय करते ही हैं इसी के अनुसार मैंने दुःखरूपी शत्रु को—जिसे कि मैं उस समय तक जानती ही न थी—जीतकर कैद कर लिया। यदि मैं उससे भय खा जाती या परास्त हो जाती तो वह मुझे पीस ही देता, परन्तु मैं उससे भयभीत नहीं हुई। अब, जब

से मैंने उसे कैद कर लिया है तो वह शत्रुता की जगह मेरा उपकार कर रहा है और मुझे ऐसे-ऐसे काम करना सिखा रहा है कि जिन्हें करना मैं जानती ही न थी।

रानी की बात सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुए और धन्यवाद देते कहने लगे कि—मैं समझता था कि तुम राज्य छूट जाने और इस प्रकार भूखे रहकर जंगल में चलने आदि के दुःखों से दुःखित हो जाओगी, परन्तु तुम तो इस समय भी अपने आपको सुखी बता रही हो।

तारा - प्रभो ! मैं दुःखित तो तब होऊं जब आपका राज्य छूटा हो। आपका राज्य छूटा ही नहीं है, बल्कि कृत्रिम राज्य के बदले अलौकिक और वास्तविक राज्य प्राप्त हुआ है।

हरिश्चन्द्र - तारा ! यह तो तुम एक अत्युक्तिपूर्ण बात कह रही हो।

तारा—नहीं नाथ, मैं आपको बताती हूँ कि आपका वह राज्य कैसे कृत्रिम था और इस समय का राज्य कैसे अकृत्रिम है ? पहले आप उस सिंहासन पर बैठते थे जिसके छिन जाने आदि बातों का सदा भय बना रहता था, लेकिन आज आप कुश के उस सिंहासन पर बैठे हैं जिसके विषय में किसी प्रकार का भय नहीं है। यदि आप यह कहें कि राजा लोग कुशासन पर नहीं बैठते, सिंहासन पर ही बैठते हैं तो वे राजा कुशासन की उत्कृष्टता को नहीं जानते। किन्तु आपने उस सोने के सिंहासन की अपेक्षा इस कुशासन को बड़ा समझा है, इसी से

तो उसे त्यागकर इसे अपनाया है।

हरिश्चन्द्र—यह तो तुमने ठीक कहा।

तारा—स्वामी ! पहले आप पर जो चंवर ढुला करता था, वह तभी तक पवन करता था जब तक कि कोई उसे हिलाता रहता था। लेकिन यह प्राकृतिक पवन ऐसा चंवर है कि सदैव हिला करता है और इसी के दिये पवन से आप तथा सारा संसार जी रहा है। वह चंवर तो केवल आप को पवन देता था परन्तु यह चंवर तो सबको पवन देता है और इस प्रकार उस कृत्रिम चंवर की अपेक्षा यह अकृत्रिम चंवर विशेष आनन्द का दाता है।

प्रभो, उस राज्य में आपके सिर पर जो छत्र रहता था वह तो आडम्बर था। इसके सिवाय वह छत्र केवल आप ही पर छाया रखता था, परन्तु यह वृक्षरूपी छत्र आडम्बर-रहित और सब पर छाया रखने वाला है। उस छत्र की छाया के बिना सबको दुःख नहीं हो सकता, परंतु इसकी छाया के बिना मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी दुःखी हो सकते हैं।

आपके उस राज्य में सब जीव आपसे भय खाते थे, वह राज्य क्रोध, अहंकार आदि पैदा करने वाला था परंतु इस राज्य में क्रोध, अहंकार, वैर आदि का नाम भी नहीं है। यह राज्य प्रेम का है। देखिये तो ये हरिण आपकी ओर कैसी आंखें फाड़कर प्रेम से देख रहे हैं। आप जब उस राज्य के स्वामी थे तब क्या हरिण इस प्रकार निर्भय

होकर आपके राजसिंहासन के समीप आते थे ?

नाथ, उस राज्य में गायकगण आपको कृत्रिम गान सुनाते थे, वंदीजन आपकी अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा करते थे, परन्तु इस राज्य में पक्षीगण आपको अकृत्रिम-राग सुनाते हैं। अब आप ही बतलाइए कि इस राज्य की समानता वह राज्य कैसे कर सकता है। उस राज्य में यदि कुछ लोग आपके हितचिन्तक थे, आपसे प्रेम करते थे तो कुछ लोग आपके अहितचिन्तक और आपसे ईर्ष्या करने वाले भी रहे होंगे, परन्तु इस राज्य में आपसे कोई भी ईर्ष्या करने वाल नहीं है।

रानी की बात सुनकर राजा उनकी वुद्धि और उनके धैर्य पर प्रसन्न हो उठे। वे कहने लगे—तारा, तुमने तो इस दशा में भी मुझे उस राज्य से भी अच्छे राज्य का स्वामी बनाया है। तुम स्त्री नहीं वरन् एक शक्ति हो। तभी मैं उसको त्यागकर इस राज्य को प्राप्त कर सका हूँ। वास्तव में तुमने मेरे दुःख की गठड़ी ले ली है। अब मुझे कोई दुःख नहीं रहा, इसलिए चलो, अब और आगे बढ़ें।

रानी-रानी फिर चलने लगे। पिता के मूर्छित होकर गिर जाने और माता-पिता को वातचीत करते देख बालक रोहित भूखा होते हुए भी शान्तचित बैठा था लेकिन बालक अपनी भूख को कब तक दबा सकता था ? वन के खट्टे-तूरे फलों से उसकी तृप्ति नहीं हुई थी, इसलिये माता-ि से वह पुनः खाने को मांगने लगा।

जिस देव ने राजा को सत्य से डिगाने का प्रण किया ा, वह तो विश्वामित्र के राज्य ले लेने और हरिश्चन्द्र को ाज्य से निकाल देने पर यह विचार कर प्रसन्न हुआ था कि ब हरिश्चन्द्र सत्य का पालन न कर सकेगा परन्तु राजा को त्यपालन के लिए इस प्रकार कष्ट सहते देख आश्चर्यचकित ो गया। इस समय उसने विचारा कि इन्हें राज्य छूटने आदि ा कैसा दुःख है ? इसकी परीक्षा मैं स्वयं लूं। इस विचार वह एक वृद्धा का रूप धारण करके सिर पर लड्डुओं का टारा रख हरिश्चन्द्र और तारा के साथ-साथ चलने लगा। ह एक लड्डू हाथ में ले रोहित को दिखा-दिखाकर लल- ाने लगा कि देखें अपने पुत्र की भूख से दुःखित राजा-रानी ड्डू मांगते हैं या नहीं। रोहित वृद्धा को लड्डू बताते देख पनी माता की ओर देखने लगा। तारा ने रोहित से हा—बेटा, ऐसे लड्डू तो तुम नित्य ही खाते थे और अब ागे चलकर और भी खाओगे।

माता-पिता के स्वभाव के संस्कारों का प्रभाव बालकों र भी हुआ करता है। जिनके माता-पिता स्वयं मांगना हीं जानते, उनके बालक भी प्रायः ऐसे ही हुआ करते हैं। ो बालकों को यदि कोई स्वयं भी कुछ देने लगता है तो नहीं लेते, मांगना तो दूर रहा। रोहित बालक था और ज दो दिन से भूखा भी था परन्तु उसने उस वृद्धा से ड्डू नहीं मांगा और न माँ से ही कहा कि तुम मुझे ! दो।

वृद्धा अपने लड्डू वाले हाथ को रोहित के समीप इस तरह ले जाती थी मानो उसे लड्डू दे रही हो परन्तु जिस तरह कोई घृणित वस्तु की ओर नहीं देखता, उसी तरह रोहित ने भी माता की बात सुनने के पश्चात् उसकी ओर नहीं देखा और न हरिश्चन्द्र या तारा ने ही उससे कहा कि तू एक लड्डू दे दे। तारा मन-ही-मन यह अवश्य कहती थीं कि रोहित को आश्वासन देने के लिए यह वृद्धा अच्छी आ गई। इसके आ जाने से मेरे बालक का मार्ग सुगम हो गया और वह अपने भूख के दुःख को बहुत कुछ भूल गया है।

रोहित, राजा और रानी की ऐसी दृढ़ता देखकर वह देव निराश हो अपना-सा मुंह लेकर एक तरफ को चलता बना।

चलते-चलते राजा, रानी और रोहित काशी में गंगा घाट पर आ पहुंचे। गंगा की धारा देखकर उन्हें अपूर्व हर्ष हुआ। दोनों उस धारा से अपनी तुलना करते हुए परमात्मा से प्रार्थना करने लगे कि—हे प्रभो, हमारी धारा भी गंगा की धारा की तरह सदा एक-सी रहे।

गंगा की धारा को संबोधित कर राजा कहने लगे—गंगे! तू हिमालय से निकलकर समुद्र में जा रही है। न तो किसी के लौटाने से लौटती है और न किसी के रोकने पर रुकती है। बल्कि जो तेरे मार्ग को रोकता है, उसका तू अविराम विरोध करती है। तेरी धारा सम है, उसके मध्य कहीं भी विषमता नहीं है। तेरी ही तरह मैं भी इस

संसार रूपी हिमालय से निकलकर परमात्मा रूपी समुद्र में जाना चाहता हूँ। जिस प्रकार तेरे जल की धारा नहीं लौटती उसी प्रकार मुझे भी अपने सत्य की धारा में विघ्न-कर्त्ता झूठ का निरन्तर विरोध करते हुए समवेग से धारा को चलने देना चाहिए। अब तक तो मैं अपने इस कर्तव्य पर स्थिर रहा हूँ और आशा है कि आगे भी दृढ़ रहूँगा।

गंगे! तू तो जिन प्रदेशों में होकर निकली है, उनको हरा-भरा बनाकर वहाँ के निवासियों को सुख देती गई है। मैं भी अवध से काशी आया हूँ, परन्तु यहाँ के लोगों को मैं क्या शाँति प्रदान कर सकूंगा, यह नहीं कह सकता।

उधर रानी कह रही थीं—गंगे! तेरा नाम भी स्त्री वाचक है और मैं भी स्त्रियों में से हूँ। मैं अब अपनी और तेरी तुलना करती हूँ।

जिस प्रकार तू हिमालय से निकलकर समुद्र को जाती है, उसी प्रकार हम स्त्रियाँ भी पीहर को छोड़कर ससुराल जाती हैं। जिस तरह तू अपने एक समुद्र को छोड़कर दूसरे में जाने का विचार नहीं करती, उसी प्रकार हम भी एक ससुराल को छोड़कर दूसरी में जाने का विचार नहीं करतीं। जैसे तू समुद्र में जाकर मिल जाती है, दूसरी नहीं जान पड़ती, उसी तरह हम भी ससुराल में जाकर मिल जाती हैं, दूसरी नहीं जान पड़तीं। जिस तरह तू अपने उद्गम स्थान पर तो कल-कल करती है, परन्तु समुद्र में पहुंचकर शाँत और गम्भीर बन जाती है, उसी हम भी पीहर में तो कल-कल करती हैं परंतु

ससुराल में शांत और गंभीर बन जाती हैं। जिस प्रकार तेरी एक धारा होने से तू पावन कहलाती है, उसी प्रकार हम में भी जो एक धारा रखती हैं वे पावन कहलाती हैं। जिस प्रकार तू निःस्वार्थ भाव से समुद्र में जाती है, उसी प्रकार हम भी निःस्वार्थ-भाव से ससुराल जाती हैं। जैसे तू अविराम वहती और उस बहाव में बाधा पहुंचाने वाले का विरोध करती रहती है, उसी प्रकार हम भी पति-सेवा तथा उनके हित-चिन्तन में संलग्न रहतीं और उसमें बाधा पहुंचाने वाले विषयों का विरोध करती हैं। जिस प्रकार तू अपनी धारा को रोकने वाले पहाड़ों को चीर डालती है, उसी प्रकार हम भी अपने पतिहित की धारा को रोकने वाले सुखों को चीर डालती हैं। गंगे ! अब बता, ऐसा करना तूने हम स्त्रियों से सीखा है या हम स्त्रियों ने तुझसे सीखा है !

गंगे ! यदि इसमें मैंने कोई अहंकार की बात कही हो तो मुझे क्षमा करना। क्षमा के साथ-साथ मैं तुझसे यह और मांगती हूँ कि मेरे जो धारा इस समय वह रही है, वह अन्त तक ऐसी ही बनी रहे।

दम्पत्ति ने इस प्रकार गंगा से अपनी तुलना की और वहां से चलकर धर्मशाला में आए।

धर्मशाला बनवाने का अभिप्राय तो यह होता है कि उसमें उन लोगों को रहने दिया जाए, जिनके रहने का कोई स्थान नहीं है और जो तत्काल ही अपना अन्य प्रबंध नहीं कर सकते हैं। लेकिन आजकल सुना जाता है कि प्राय

संसार रूपी हिमालय से निकलकर परमात्मा रूपी समुद्र में जाना चाहता हूँ। जिस प्रकार तेरे जल की धारा नहीं लौटती उसी प्रकार मुझे भी अपने सत्य की धारा में विघ्न-कर्त्ता झूठ का निरन्तर विरोध करते हुए समवेग से धारा को चलने देना चाहिए। अब तक तो मैं अपने इस कर्तव्य पर स्थिर रहा हूँ और आशा है कि आगे भी दृढ़ रहूँगा।

गंगे ! तू तो जिन प्रदेशों में होकर निकली है, उनको हरा-भरा बनाकर वहाँ के निवासियों को सुख देती गई है। मैं भी अवध से काशी आया हूँ, परन्तु यहाँ के लोगों को मैं क्या शाँति प्रदान कर सकूंगा, यह नहीं कह सकता।

उधर रानी कह रही थीं—गंगे ! तेरा नाम भी स्त्री वाचक है और मैं भी स्त्रियों में से हूँ। मैं अब अपनी और तेरी तुलना करती हूँ।

जिस प्रकार तू हिमालय से निकलकर समुद्र को जाती है, उसी प्रकार हम स्त्रियाँ भी पीहर को छोड़कर ससुराल जातीं हैं। जिस तरह तू अपने एक समुद्र को छोड़कर दूसरे में जाने का विचार नहीं करती, उसी प्रकार हम भी एक ससुराल को छोड़कर दूसरी में जाने का विचार नहीं करतीं। जैसे तू समुद्र में जाकर मिल जाती है, दूसरी नहीं जान पड़ती, उसी तरह हम भी ससुराल में जाकर मिल जाती हैं, दूसरी नहीं जान पड़तीं। जिस तरह तू अपने उद्‌गम स्थान पर तो कल-कल करती है, परन्तु समुद्र में पहुंचकर शाँत और गम्भीर बन जाती है, उसी हम भी पीहर में तो कल-कल करती हैं परंतु

ससुराल में शांत और गंभीर बन जाती हैं। जिस प्रकार तेरी एक धारा होने से तू पावन कहलाती है, उसी प्रकार हम में भी जो एक धारा रखती हैं वे पावन कहलाती हैं। जिस प्रकार तू निःस्वार्थ भाव से समुद्र में जाती हैं, उसी प्रकार हम भी निःस्वार्थ-भाव से ससुराल जाती हैं। जैसे तू अविराम बहती और उस बहाव में बाधा पहुंचाने वाले का विरोध करती रहती है, उसी प्रकार हम भी पति-सेवा तथा उनके हित-चिन्तन में संलग्न रहतीं और उसमें बाधा पहुंचाने वाले विषयों का विरोध करती हैं। जिस प्रकार तू अपनी धारा को रोकने वाले पहाड़ों को चीर डालती है, उसी प्रकार हम भी अपने पतिहित की धारा को रोकने वाले सुखों को चीर डालती हैं। गंगे! अब बता, ऐसा करना तूने हम स्त्रियों से सीखा है या हम स्त्रियों ने तुझसे सीखा है!

गंगे! यदि इसमें मैंने कोई अहंकार की बात कही हो तो मुझे क्षमा करना। क्षमा के साथ-साथ मैं तुझसे यह और मांगती हूँ कि मेरे जो धारा इस समय बह रही है, वह अन्त तक ऐसी ही बनी रहे।

दम्पत्ति ने इस प्रकार गंगा से अपनी तुलना की और वहां से चलकर धर्मशाला में आए।

धर्मशाला बनवाने का अभिप्राय तो यह होता है कि उसमें उन लोगों को रहने दिया जाए, जिनके रहने का कोई स्थान नहीं है और जो तत्काल ही अपना अन्य प्रबंध नहीं कर सकते हैं। लेकिन आजकल सुना जाता है कि प्रायः

किसी बड़े आदमी के आने पर या आने की सूचना मिलने पर धर्मशाला से गरीबों को तो निकाल दिया जाता है या ठहरने नहीं दिया जाता और धनिकों के लिए संपूर्ण धर्मशाला या उसका कुछ भाग सुरक्षित कर दिया जाता है। परन्तु जिन धर्मशालाओं में ऐसा होता है वे वास्तव में धर्मशाला नहीं, बल्कि धनिकों की विलासशाला है।

१७ . काशी में

निन्दतु नीति निपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ।।

नीति-निपुण मनुष्य की चाहे कोई निन्दा करे या स्तुति करे। लक्ष्मी आये अथवा स्वेच्छानुसार चली जाये। चाहे आज ही मृत्यु हो जाए या युगान्तर में हो। किन्तु धीर मनुष्य न्याय-मार्ग से एक कदम भी विचलित नहीं होते हैं।

ऊपर कहे गए नीति-वाक्य के अनुसार हरिश्चन्द्र, तारा और रोहित ने दो दिन से भूखे तथा पास में एक पैसा न होते हुये भी किसी से भीख मांगने या अनुचित रीति से अपनी क्षुधा मिटाने का विचार न किया। इस प्रकार कष्ट सहकर भी नीति को न छोड़ने के कारण ही अनेक युग बीत जाने पर भी आज लोग हरिश्चन्द्र और तारा की प्रशंसा करते हैं।

रोहित को लिये हुये राजा-रानी धर्मशाला में आये। धर्मशाला का व्यवस्थापक दीनवेशधारी राजा-रानी को देख आश्चर्यचकित हो विचारने लगा कि आज तक इस धर्मशाला में अनेक स्त्री-पुरुष, धनिक और निर्धन आये परन्तु ऐसा

सुन्दर तो एक को भी नहीं देखा। कहीं सौन्दर्य ही तो मनुष्य रूप धारण करके नहीं आया है ? ऐसा सोचकर उसने पूछा कि—आप कौन है और यहाँ किस अभिप्राय से पधारे हैं ?

राजा—हम दीन श्रमजीवी हैं। जीविकोपार्जन के लिये यहाँ आए हैं और इस धर्मशाला में ठहरने के इच्छुक हैं। हमें कहीं थोड़ा-सा स्थान दे दीजिये, जहाँ हम लोग रह सकें।

व्यवस्थापक—आप लोगों को जितने और जिस स्थान की आवश्यकता हो, ले लीजिये।

राजा—हम दीन हैं इसलिए हमें विशेष स्थान तो नहीं चाहिए, लेकिन एक छोटी-सी कोठरी दे दीजिये और उसका कितना किराया होगा, वह भी बतला दीजिये।

व्यवस्थापक—किराया ! यहाँ किराया नहीं लिया जाता और न कोई किराया देकर रहने वाला आता ही है। यह तो धर्मशाला है। यहाँ दीनों को रहने के लिए स्थान भी है और भोजन भी दिया जाता है।

राजा—यदि ऐसा है और हमें यहाँ किराये पर कोई स्थान नहीं मिल सकता तो फिर हम कोई अन्य स्थान ढूंढेंगे। लेकिन बिना किराया दिये तो हम नहीं रह सकेंगे।

व्यवस्थापक—जब आप लोग दीन हैं तो किराया कहाँ से देंगे ? क्या यहाँ का भोजन भी नहीं करेंगे ?

राजा—मैं धर्मार्थ मिलने वाला भोजन भी नहीं कर सकता और न बिना किराया दिये रह ही सकता हूँ। मैं तरह अपना उदर-पोषण करूंगा, उसी प्रकार से किराया

रहे हैं ।

बात-की-बात में रानी ने कोठरी झाड़-बुहारकर साफ कर ली और आसपास की दूकानों से भोजन बनाने के लिए किराये पर बरतन भी ले आईं । यह सब कर चुकने पर रानी विचारने लगीं कि पति तो काम की तलाश में गये हैं परन्तु वे इस समय सिवाय मजदूरी के और क्या करेंगे ? वे मजदूरी करके लाएंगे और तब मैं भोजन बनाकर दूं, इसमें मेरी क्या विशेषता होगी ? इधर वैसे ही वे दो दिन से भूखे हैं, फिर भी मजदूरी करने गये हैं और वे मजदूरी करके लाएं, मैं बनाऊंगी तब तक फिर भूखे रहेंगे । इधर मैं भी उस समय तक यों ही बैठी रहूँगी । जब वे मजदूरी करने गए हैं, तब मुझे मजदूरी करने में क्या हर्ज है । मैं तो उनकी अर्द्धांगिनी हूं । वे राजा थे तो मैं रानी थी । जब वे मजदूर हैं तो मैं भी मजदूरनी हूँ ।

ऐसा विचारकर रानी पड़ोस की स्त्रियों के निकट जाकर कहने लगीं—यदि आप लोगों के यहाँ कोई मजदूरी का कार्य हो तो कृपा करके मुझे बतलाइये ।

तारा व रोहित के रूप-सौन्दर्य को देख और बात सुनकर उन स्त्रियों का हृदय भर आया । वे आपस में कहने लगीं कि यह है तो कोई भद्र-महिला परन्तु है विपद्ग्रस्त । उनमें से एक ने रानी से पूछा कि—आप कौन हैं और क्या-काम कर सकती हैं ?

रानी—मैं मजदूरनी हूँ । पीसना-कूटना, बरतन मांजना

तारा की इस बात ने उन स्त्रियों के हृदय में और भी करुणा उत्पन्न कर दी। वे कहने लगीं कि—तुम मजदूरनी तो नहीं जान पड़तीं, परन्तु विपत्ति की मारी अवश्य हो। हमें तुमसे मजदूरी कराना उचित प्रतीत नहीं होता, अतः तुम्हें जो चाहिये हो सो ले लो।

रानी—यदि मुझे सम्मान के योग्य समझती हैं तो आप लोग मुझे भिखमंगी न बनाइए और कोई मजदूरी का कार्य देने की कृपा कीजिये। यदि कार्य न हो तो मना कर दीजिए। देर करने से हमें भोजन बनाने में भी देर होगी, जिसके फल-स्वरूप हमें अधिक समय तक भूख सहनी पड़ेगी। मैं बिना मजदूरी किए तो आपसे कुछ भी नहीं ले सकती।

स्त्रियों ने जब समझ लिया कि यह ऐसे न लेगी, तब उन्होंने तारा को कुछ काम दिए। जिनको तारा ने इतने शीघ्र और कुशलतापूर्वक किया कि वे सब उनकी कार्यकुशलता पर मुग्ध हो गईं। उन्होंने मजदूरी दी और मजदूरी पाकर तारा ने भोजन सामग्री खरीदी और उससे भोजन बनाकर रोहित को परसा। सदा के अनुसार रोहित मचल गया और माता से कहने लगा कि तुम भी भोजन करो। परन्तु तारा ने उसे समझाया कि तेरे पिताजी के आ जाने पर मैं भी भोजन करूंगी। तारा के समझाने-बुझाने पर रोहित ने भोजन किया।

रोहित को भोजन कराकर रानी द्वार पर बैठीं पति की प्रतीक्षा करने लगीं। उधर राजा भी इस विचार से कि—बालक और स्त्री भूखे हैं। मजदूरी मिलते ही भोजन-सामग्री

खरीदकर स्थान पर आये। राजा के आने पर रानी ने कहा— नाथ, भोजन कीजिये। राजा आश्चर्य से पूछने लगे कि— भोजन बनाने की सामग्री लेकर तो अब आ रहा हूँ, तुमने भोजन कहाँ से बना लिया।

रानी—प्रभो, अच्छा हो कि यह बात आप भोजन करने के बाद पूछिए। हाँ, यह मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि यह भोजन न्यायोपार्जित है, अन्यायोपार्जित नहीं।

रानी के विश्वास दिलाने पर राजा ने भोजन किया और फिर रानी से पूछा—प्रिये, अब बताओ कि यह भोजन-सामग्री तुमने कहाँ से और कैसे प्राप्त की? मुझे आश्चर्य है कि तुमने इतने ही समय में सामग्री कैसे प्राप्त कर ली?

रानी—प्रभो, आप यह सामग्री कहाँ से लाए हैं?

राजा—यह तो मैं मजदूरी करके लाया हूँ।

रानी—मजदूर की स्त्री भी मजदूरनी ही होती है। आप जब मजदूरी करने गए तो फिर मुझे मजदूरी करने में क्या लज्जा हो सकती थी। जिस प्रकार आप मजदूरी करके यह भोजन-सामग्री लाए हैं, उसी प्रकार मैं भी मजदूरी करके लाई हूँ। जब आपको अन्यायवृत्ति प्रिय नहीं, तो मुझे कैसे प्रिय हो सकती थी? आपकी लाई हुई भोजन-सामग्री शेष रहेगी। गृहस्थ का कर्तव्य है कि अल्प संचय करे, तो अपने यहाँ भी कम-से-कम एक-दो समय की भोजन-सामग्री शेष होनी ही चाहिए। स्वामी, हम लोगों को अब ... प्रकार कष्ट नहीं हो सकता। क्या आप और

मैं दोनों मिलकर अपना पेट भरने के लिए भी नहीं कमा सकेंगे ?

रानी की बात सुनकर राजा को सन्तोष हुआ। वे आश्चर्यपूर्वक कहने लगे—तारा तुमने तो गजब कर दिया। तुम-सी स्त्री पाकर मैं कृतार्थ हुआ।

जो राजा और रानी कुछ ही दिन पहले धन-धान्यादि से सुखी थे, अब गरीबीपूर्ण जीवन में, रूखे-भूखे भोजन में, और धर्मशाला की एक छोटी-सी किराए की कोठरी में ही अपने को सुखी मान रहे थे। जिनके यहाँ हजारों मजदूर लगे रहते थे, वे आज स्वयं मजदूरी करके और ऐसा करते हुए भी अपने-आपको सुखी समझ रहे थे, इस गरीबी को दूर करने के लिए किसी अन्यायपूर्ण कार्य करने की इच्छा भी स्वप्न में नहीं करते थे। इसलिए नीतिकारों ने कहा है कि धीर मनुष्य चाहे जैसी परिस्थिति में हों, किन्तु वे कभी भी न्यायमार्ग नहीं छोड़ते हैं।

राजा-रानी इसी प्रकार मजदूरी करके सुखपूर्वक दिन व्यतीत करने लगे। रानी अपने गृहकार्य से निवृत होकर पड़ोस के घरों में मजदूरी करने जाती और राजा सबेरे ही जाकर मजदूरों के दल में सम्मिलित हो जाते थे। राजा और रानी को देखकर लोग आश्चर्य करते और विचार करते थे कि ये कौन हैं ? परन्तु न तो कोई इन्हें पहचान ही सका और न ही किसी को अपना परिचय दिया। अपने एक नये मजदूर को सम्मिलित होते देख मजदूर

में कानाफूसी करते कि यह कौन है? इसका ललाट कितना भव्य है, भुजाएँ कैसी लम्बी हैं, वक्षस्थल कैसा चौड़ा है और शरीर कितना सुन्दर तथा सुडोल है? यह कोई देव तो नहीं है जो मजदूर के वेश में हम से कुछ छल करने आया हो? यह मजदूरी के तो सभी कार्य जानता है परन्तु इसके पास मजदूरी का कोई औजार नहीं है।

मजदूरों में से एक मजदूर ने साहस करके राजा से पूछा—महाशय, हम आपका परिचय जानना चाहते हैं।

राजा—भाई, जैसे मजदूर आप हैं, वैसा ही मैं भी हूँ। मजदूरों का विशेष परिचय क्या? हम सबको तो अपने कार्य का ध्यान रखकर आपस में सहयोग रखना चाहिए।

राजा का उत्तर सुनकर उसे और कुछ पूछने का साहस ही न हुआ।

राजा जिनके यहाँ मजदूरी पर जाते थे, वे भी उनके कार्य से प्रसन्न रहते थे। मजदूरी के जितने भी कार्य होते हैं राजा उन सभी को जानते थे। पहले के लोग इसीलिए अपनी सन्तान को सब कार्य सिखलाते थे कि किसी समय और किसी भी दशा में वह भूखों न मरे।

राजा का मजदूरों से अच्छा प्रेम हो गया। राजा उन्हें उचित सलाह देते और यथासामर्थ्य उनकी सहायता करते थे। इस प्रकार सब मजदूर उनके अनुगामी बन गए और महाराज हरिश्चन्द्र का मजदूरों पर एक छोटा-सा राज्य गया।

१८ : ऋण-मुक्ति का उपाय

महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी तारा मजदूरी करते हुए आनन्दपूर्वक दिन व्यतीत कर रहे थे परन्तु विश्वामित्र के ऋण की चिन्ता उन्हें चैन नहीं लेने देती थी। हरिश्चन्द्र के पास कुछ न होते हुए भी वे ऋण-मुक्त होने की चिन्ता में थे और एक आज के वे लोग हैं जो ऋण लेकर देने की सामर्थ्य होते हुए भी नहीं देते हैं या कह देते हैं कि हमने लिया ही नहीं या फिर दिवाला निकाल देते हैं और एक हरिश्चन्द्र हैं जिन्होंने विश्वामित्र से ऋण तो लिया नहीं था केवल दक्षिणा देना जबान से मात्र कह दिया था, तब भी उन्हें देने की चिन्ता थी। इस अन्तर का कारण यही है कि आज के ऐसा करने वाले लोगों ने तो अन्याय-वृत्ति को अपना साधन मान रखा है लेकिन हरिश्चन्द्र को न्याय-वृत्ति ही प्रिय थी। सत्पुरुषों की ऐसी वृत्ति को देखकर एक कवि ने कहा है—

प्रिय न्याय्या वृत्तिमलिनमसुभंगेप्यसुकरं—
त्वसन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः।
विपद्यच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां—
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥१॥

सत्पुरुषों को यह तलवार की धार जैसा कठिन व्रत किसने बताया है ? जो प्राण जाने पर भी मलिन और पाप कर्म नहीं करते, किन्तु न्यायोपार्जित आजीविका ही जिनको प्रिय है। वे दुष्टों से या अल्पधन वाले सज्जनों से भी याचना करना नहीं जानते हैं। जैसे-जैसे विपत्ति आती है, वैसे-वैसे नहीं घबराते हुए सदा उच्चपद के ही विचार करते और उच्चता के ही अनुगामी बनते जाते हैं।

एक दिन इसी चिन्तित दशा में राजा को नींद आ गई। किन्तु कुछ देर पश्चात चौंककर वे जाग गए और बैठ गये। पति को इस प्रकार चौंकते देख रानी ने उनसे इसका कारण पूछा। हरिश्चन्द्र कहने लगे—प्रिये, विश्वामित्र का जो ऋण मुझ पर लदा है, वह मुझे किसी भी समय चैन नहीं लेने देता है।

पति की बात सुनकर तारा कहने लगीं—नाथ आप चिन्ता क्यों करते हैं ? जैसा ऋण आप पर है, वैसा ही मुझ पर भी तो है। फिर आप अकेले चिन्ता क्यों करें ? किसी-न-किसी प्रकार ऋण से मुक्त हो ही जाएँगे।

हरिश्चन्द्र—लेकिन ऋण-मुक्त होंगे कैसे ! अपनी आमदनी तो केवल इतनी ही है कि उससे निर्वाह हो सकता है। एक सहस्र स्वर्ण-मुद्रा आएगी कहाँ से, जो ऋण भी दिया जा सके ?

तारा—स्वामी, जब हम अयोध्या से चले थे तब खाने को भी पास नहीं था और न आशा थी कि

कि काशी में हमें कुछ मिल जाएगा। फिर भी यहाँ हमारा काम किस प्रकार चल रहा है कि आप भी भोजन करते हैं, और—गृहस्थों का कर्तव्य-पालन करते हुए—अतिथि-सत्कार भी करते हैं।

राजा—उद्योग।

तारा—जिस उद्योग से खाने को मिल रहा है तो उसी उद्योग से ऋण भी दिया जाएगा। फिर आप चिन्ता क्यों कर रहे हैं?

राजा—यह तो मैं पहले ही कह चुका हूँ कि उद्योग द्वारा हमारी आय इतनी नहीं होती कि जीवन-निर्वाह भी हो जाए और ऋणमुक्त भी हो सकें। अतएव चिन्ता क्यों न करूं?

तारा—यदि हमारी नीयत साफ है, सत्य पर अटल हैं, ऋण चुकाने की सच्ची चिन्ता है तो ऋण अवश्य ही चुक जायेगा। ऋण तो उनका नहीं चुकता जो चुकाने की ओर से उदासीन हैं, किन्तु आप तो उसके लिये चिन्तित हैं। अतः आप तो अवश्य ही ऋणमुक्त होंगे।

रानी की बात सुनकर राजा को धैर्य प्राप्त हुआ। कुछ दिन तो राजा-रानी उसी प्रकार अपने कार्य में लगे रहे परन्तु अवधि के कुछ दिन शेष रहने पर राजा को पुनः ऋण-चिंता ने घेर लिया। राजा ने सोचा कि जैसे भी हो ऋण-मुक्त होना चाहिये। उस दिन वे मजदूरी करने नहीं गये और किसी के यहाँ नौकर रहकर ऋण की मोहरें प्राप्त करने के

विचार से बाजार गये। एक बड़ी-सी दुकान पर पहुंचकर उसके एक सेवक से कहा कि—मुझे सेठ से कुछ कहना है। दीनवेशधारी राजा को पहले तो वह सेवक टालता ही रहा, परन्तु राजा के विशेष अनुनय-विनय करने पर उसने सेठ को सूचना दी कि एक मजदूर आपसे कुछ बात करना चाहता है।

जिन मजदूरों की कमाई पर धनिकों का जीवन निर्भर है, जो श्रमजीवी आप छोटे रहकर दूसरों को बड़ा बनाते हैं, प्रायः उन्हीं श्रमजीवियों की बात को वे बड़े लोग नहीं सुनते हैं। उनको उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। उनके दुःख पर ध्यान नहीं देते बल्कि विशेष कहने-सुनने पर उनके साथ अभद्रतापूर्ण व्यवहार तक करते हुये सुने जाते हैं। वे धन के कारण धनान्ध हो जाते हैं। ऐसों को ही लक्ष्य कर एक शायर ने कहा है—

नशा दौलत का बदअतवार को जिस आन चढ़ा।
सर पै शैतान के एक और शैतान चढ़ा॥

अनुभवशून्य और क्षुद्रहृदय मनुष्य पर जिस क्षण संपत्ति का नशा चढ़ गया, उस समय मानो शैतान के सिर पर एक और शैतान चढ़ गया है।

यद्यपि यह सर्वथा अनुचित कि दीनों पर दया न करना, अपने उपकारी का उपकार न मानना। परन्तु धन के मद में उन्हें अपने कर्तव्य का ध्यान नहीं रहता है। धन के नाश जाने पर जब वे भी उसी श्रेणी में आ जाते हैं तब चाहे

उन्हें अपनी भूल प्रतीत हो और श्रमजीवियों से प्रेम करने लगें परन्तु पहले ही यदि वे इस बात को समझ लें तो ऐसा पश्चात्ताप करने का अवसर ही क्यों आए ?

परन्तु मजदूर वेशधारी राजा से बातचीत करना उस धनान्ध सेठ को कब उचित प्रतीत हो सकता था, अतः उसने राजा की ओर देखकर अपने मुनीम-गुमाश्तों से कहा कि—कोई मजदूरी का काम हो तो इसे दे दो।

राजा—मैं मजदूर तो हूँ ही और मजदूरी मेरा धन्धा है परन्तु इस समय मैं उसके लिए नहीं आया हूँ। मैं तो आपसे एक ऐसी बात कहना चाहता हूँ कि जिसमें आपका भी लाभ है और मेरा भी लाभ है।

परन्तु सेठ ने यह विचार कर कि यह मजदूर मेरे लाभ की क्या बात बता सकता है और कौन इससे बात करने में समय खोये, राजा को धुतकार दिया। राजा वहाँ से निराश होकर दूसरी दुकान पर पहुंचे परन्तु वहाँ भी यही दशा हुई। इस प्रकार कई दुकानों पर गए परन्तु किसी ने भी उनकी बात नहीं सुनी। जिस प्रकार हीरे की पहिचान न होने के कारण भीलनी उसकी उपेक्षा कर घुंघची को महत्त्व देती है, उसी प्रकार राजा की भी कोई परीक्षा न कर सका और उन्हें सभी जगह निराश होना पड़ा।

इस तरह अनेक स्थानों पर अपमानित होने पर भी राजा निराशा को दबाकर प्रयत्न करते रहे। एक सेठ ने राजा की बात सुनना स्वीकार किया। राजा ने कहा—मैं

लिखना-पढ़ना, नापना-तोलना आदि व्यापार संबंधी सब कार्य जानता हूँ। इतना ही नहीं, एक सैनिक की तरह दुकान की रक्षा भी कर सकता हूँ। किन्तु मैं ऋणी हूँ, अतः आप मेरा ऋण चुकाकर मुझे अपने यहाँ नौकर रख लीजिए और जब तक मैं ऋण-मुक्त न हो जाऊं, तब तक आप मुझसे काम लीजिये और मेरा वेतन अपने लेने में जमा करते रहिए।

सेठ—तो फिर खायगा क्या?

राजा—मेरी स्त्री मजदूरी करती है और उसी मजदूरी से मेरा निर्वाह हो जाएगा।

सेठ—कितना ऋण है?

राजा—एक हजार मुहरें।

सेठ—एक हजार! क्या जुआ खेला था?

राजा—नहीं।

सेठ—तो फिर इतना ऋण कैसे हो गया? क्या किसी और व्यसन में फंस गया था?

राजा—मैं व्यसन के समीप भी नहीं जाता। मुझे एक ब्राह्मण की दक्षिणा देना है, बस यही ऋण है।

सेठ—तेरा जितना वेतन नहीं होगा, उससे अधिक तो रकम का ब्याज हो जाएगा। इस प्रकार हमारी रकम तो कभी पूरी हो ही नहीं सकती। इसके अलावा तेरा विश्वास क्या और तू भाग जाए तो हम कहाँ ढूंढते फिरेंगे?

राजा—आप विश्वास रखिए, मैं कदापि नहीं भाग सकता।

सेठ—हमको धोखा देता है, मूर्ख समझता है। एक हजार स्वर्णमुद्रा की दक्षिणा देने वाला और दूकान का सब कार्य जानने वाला मनुष्य इस हालत में कदापि नहीं रह सकता। चल, भाग जा यहाँ से बेकार की बातें करके हमारा समय खराब न कर।

राजा—सेठ जी, आप नौकर रखकर तो देखिए कि मैं आपकी दूकान की कैसी उन्नति करता हूँ!

सेठ—पहले अपनी उन्नति तो कर ले; फिर हमारी दूकान की करना। अपना पेट तो भरा नहीं जाता और चला है हमारी दूकान की उन्नति करने!

इस सेठ से भी ऐसा अपमानजनक उत्तर सुनकर राजा निराश हो गए। वे वापस धर्मशाला लौट आए और तारा से कहने लगे—आज मैंने अपनी मजदूरी भी खोई, जगह-जगह अपमानित भी हुआ परन्तु किसी ने मेरी पूरी बात नहीं सुनी और न कार्य ही सिद्ध हुआ। अब क्या करूँ, किस प्रकार ऋण से छुटकारा मिले।

तारा—नाथ, विपत्ति के समय ऐसा ही होता है। यदि ऐसा न हो और कोई किसी प्रकार से सहायता दे या बात सुनने लगे तो फिर वह विपत्ति ही कैसी? स्वामी विपत्ति के समय तो केवल धैर्य धारण कीजिए। जिस सत्य के लिए हम इस विपत्ति को सह रहे हैं, वही हमें इस चिन्ता से भी मुक्त करेगी।

यद्यपि तारा ने हरिश्चन्द्र को बहुत कुछ धैर्य दिया

परन्तु उन्हें शांति न मिली। ऋण की मियाद का दिन जैसे-जैसे निकट आ रहा था, वैसे-वैसे ही राजा का खाना-पीना भी छूटता जा रहा था। होते-होते यह दशा हो गई कि राजा चलने-फिरने से भी अशक्त हो गए।

मनुष्य के लिए चिन्ता से बढ़कर कोई कष्ट दुःखदायी नहीं होता है। चिन्ता भीतर-ही-भीतर मनुष्य को भस्म कर देती है। किसी कवि ने कहा है—

चिन्ता ज्वाल शरीर वन, दव लागी न बुझाय।
बाहर धुंआ न नीसरे अन्दर ही जल जाय॥
अन्दर ही जल जाय जरे ज्यों कांच की भट्टी।
रक्त मांस जरि जाय, रहे पिंजर की टट्टी॥
कह गिरधर कविराय, सुनो रे सज्जन मिन्ता।
वे नर कैसे जिएं, जिन्हें तन व्यापी चिन्ता॥

ऋण-चिन्ता से व्याकुल राजा को चारों ओर निराशा-ही-निराशा दिखलाई पड़ती थी। चिन्ता से अत्यधिक आतुर हो वे परमात्मा की प्रार्थना करने लगे—हे प्रभो, जिस सत्य के लिए मैंने राज-पाट छोड़ा, मैं मजदूर तथा रानी मजदूरनी बनी, अनेक प्रकार के कष्ट सहे, वह सत्य, क्या इस थोड़े से ऋण के लिए चला जाएगा? सत्य जाने के पहले यदि मृत्यु हो जाए तो श्रेष्ठ है, परन्तु सत्य न जाने पाए।

पति की यह दुःखावस्था रानी से देखी नहीं जाती थी। वे पति को धैर्य भी बंधातीं और विचारतीं कि यदि के वचन की रक्षा मेरे प्राण देने से होती हो तो मैं

इसके लिए भी तैयार हूँ।

जहाँ, आज की स्त्रियाँ इसके लिए तैयार नहीं होतीं कि थोड़े-से आभूषण दे देने पति के वचन की रक्षा होती है, वहाँ रानी अपने प्राण देकर भी पति के वचन की रक्षा करने को तैयार हैं। यदि आज की स्त्रियाँ तारा का आदर्श सामने रखें तो सर्वस्व देने को तैयार हो जाएँ।

राजा को तो ऋण की चिन्ता थी और तारा को राजा की चिन्ता। वे विचारती थीं कि मैंने जिन पति के लिए सब सुख तृण की तरह छोड़ दिए, जिन का मुख-चन्द्र देखकर मैं मजदूरी करती हुई भी कुमुदिनी की तरह प्रसन्न रहती हूँ, उन पति की यह दशा हो गई है। अब मैं क्या करूँ? इसी चिन्ता में रानी के नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बह चली।

आज मियाद का अन्तिम दिन था। राजा इसी चिंता में थे कि आज के सूर्य में ऋण कैसे चुकाया जाय? रानी भी ऋण और पति की चिन्ता से विकल थीं। दोनों के नेत्रों से आंसू बह रहे थे और दोनों ही उदास थे। उसी समय धर्मशाला के द्वार पर आकर विश्वामित्र ने हरिश्चन्द्र के लिए पूछा। विश्वामित्र की आवाज सुनकर तारा और हरिश्चन्द्र की विकलता और भी बढ़ गई। वे विचारने लगे कि अब इनका ऋण कहाँ से चुकाया जाय? राजा ऋण चुकाने से इनकार तो कर नहीं सकते और पास कुछ है नहीं। अतः वे सोचने लगे कि अब इन्हें क्या उत्तर दूंगा? इसी भय के

मारे, उनकी जबान सूख गई।

कोठरी के द्वार पर विश्वामित्र यमराज की तरह आकर खड़े हो गए। वे अपनी क्रोधपूर्ण वाणी में बोले—कहाँ है हरिश्चंद्र !

हरिश्चंद्र की विकलता और विश्वामित्र को द्वार पर खड़े देख तारा धैर्य धरकर बाहर निकलीं और विश्वामित्र को प्रणाम करते हुए कहा—आपने बड़ी कृपा की, जो पधारे। कहिए क्या आज्ञा है ?

विश्वामित्र क्रोधित होकर कहने लगे—क्या तू नहीं जानती कि मैं क्यों आया हूँ ? कहाँ है तेरा पति ? उससे कह कि मेरा ऋण दे।

तारा—महाराज, आपका ऋण अवश्य देना है। आप साहूकार हैं और हम ऋणी। लेकिन यदि हमारे पास कुछ होता और हम देने की सामर्थ्य रखते तो जब राज्य देने में देर नहीं की, तो दक्षिणा का ऋण देने में क्यों देर करते ? इस समय तो आप क्षमा कीजिये और कृपा करके कुछ मुहलत और दे दीजिये। यदि हम लोग जीवित हैं तो आपका ऋण देंगे ही, किन्तु आपने हम लोगों को क्रोध से भस्म ही कर दिया तो इससे न तो आपका ऋण वसूल होगा और न हम ऋण-मुक्त ही हो सकेंगे।

विश्वामित्र रानी की बात सुनकर अपनी आंखों को लाल-लाल करके कहने लगे—अच्छा, अब तुम लोग इस प्रकार की धूर्तता करने पर उतारू हुए हो। क्या इसीलिए

वह धूर्त आप तो छिप गया और तुझे भेजा है ?

तारा—आप शांत हों और विचारिए कि जब हम लोग अयोध्या से चले थे, उस समय हमारे पास खाने तक को अन्न का दाना नहीं था। फिर हमने अपने दिन कितने कष्ट से निकाले होंगे ? हमारा आपका, राज्य देने-लेने के कारण घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस कारण आपको हमारे समाचार पूछ-कर सहानुभूति प्रकट करनी चाहिए थी। इस सम्बन्ध से भी नहीं, तो आप साहूकार हैं और हम ऋणी हैं, इस नाते भी आपको हमारी कुशल पूछना उचित था। लेकिन आप तो और क्रुद्ध हो रहे हैं। यदि हमारे पास देने योग्य कोई वस्तु होती और फिर हम ऋण न देते तो आपका क्रुद्ध होना उचित ही था; परन्तु जब हमारे पास ऐसी कोई चीज ही नहीं है, जिससे हम ऋण दे सकें, तब आप अकारण ही क्यों क्रुद्ध हो रहे हैं ?

विश्वामित्र—मैं ऋण मांगने आया हूँ, ज्ञान सीखने नहीं। यदि तुम्हारे पास उस समय कुछ नहीं था और इस समय नहीं है, तो मैं क्या करूँ ? इस बात को पहले ही सोच लेना था। लेकिन तब तो हठवश राज्य भी दे दिया और दक्षिणा भी देना स्वीकार किया और अब, जब मियाद समाप्ति के दिन मैं दक्षिणा लेने आया, तब वह तो छिप गया और तू इस प्रकार उत्तर देती है। यदि तुम्हारे पास देने को नहीं है तो अपने पति से कहो कि वह अपना राष स्वीकार कर ले। ऐसा कर लेने पर मैं दक्षिणा

दूंगा और राज्य भी लौटा दूंगा ।

आज की-सी स्त्रियाँ होतीं तो सम्भवतः अपने पति से कहतीं कि अब तो कष्ट-सहिष्णुता की सीमा हो। गई, अब कब तक सत्य को लिए फिरेंगे । जरा-सा अपराध स्वीकार कर लेने पर इस ऋण-चिन्ता से भी छूटते हैं और राज्य भी मिलता है। लेकिन तारा सत्यपालन और पति-वचन की रक्षा के लिए न मालूम कितना साहस रखती थीं कि इतने कष्ट सहने पर भी पति के कार्य को न तो अनुचित ही बताया और न यही कहना चाहती थीं कि आप अपराध स्वीकार कर लें ।

विश्वामित्र की बात सुनकर तारा कहने लगीं—महाराज, आप और सब कुछ कहिए, लेकिन सत्य छोड़ने के लिए कदापि न कहिए। जिस सत्य के लिए हमने इतने कष्ट सहे और सह रहे हैं, उस सत्य को अन्त समय तक भी हम नहीं छोड़ सकते । हमें राज-सुख का उतना लोभ नहीं है, जितना सत्य का है। चाहे यह किसी लोभी मनुष्य से भले हो जाय कि थोड़े से लोभ के लिए सत्य छोड़ दे, परतु हमसे ऐसा न हो सकेगा ।

विश्वामित्र – हूँ, रस्सी जल गई, ऐंठ नहीं गई । फिर यह बात किसे सुनाती है कि हमारे पास कुछ नहीं हैं ? चाहे कुछ हो या न हो, सत्य छोड़ो या न छोड़ो, हमें हमारी दक्षिणा दे दो, बस हम चले जाएँगे । मैं तो समझता था हरिश्चन्द्र ही हठी है, परन्तु तू तो उससे भी ज्यादा

झूठी जान पड़ती है।

तारा—महाराज, हमें ऋण चुकाने से तो इनकार नहीं; परन्तु हमारी प्रार्थना तो केवल यही है कि इस समय हमारे पास ऋण चुकाने की सुविधा नहीं है। आप बुद्धिमान हैं, अनुभवी हैं और हमारे साहूकार हैं, इसलिए मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ कि आप ही कोई उपाय बताइए, जिससे आपका ऋण चुका सकें। आप उपाय बताएं और फिर हम उस उपाय से आपका ऋण न चुकाएँ तो अवश्य ही हम अपराधी हैं।

विश्वामित्र उपाय भी तू ही पूछेगी? अपने पति के लिए ऐसी सुखदात्री है कि उसे बोलने का भी कष्ट न होने देगी? अच्छा, ले मैं बताता हूँ उपाय, किन्तु क्या उस उपाय को करेगी?

तारा—महाराज, आप जो भी उपाय बताएँगे, वह न्यायोचित ही होगा, इसलिए हम कदापि उसके करने से पीछे नहीं हटेंगे।

विश्वामित्र—मैं उपाय बताता हूँ कि तुम लोग बाजार में बिको और मेरा ऋण चुकाओ।

यह बात सुनकर साधारण मनुष्य को क्रोध आना स्वाभाविक था। दूसरी स्त्री होती तो कहती कि जिससे लिया जाता है, उसे भी बिककर नहीं दिया जाता, लेकिन मेरे पति ने तो तुम्हें वचन-दान ही दिया है, अत. ज
तब देंगे, बिके क्यों? लेकिन तारा को तो लिया

और वचन-दान देना, दोनों ही समान थे। इसलिए विश्वामित्र की बात से उन्हें दुःख या क्रोध न होकर प्रसन्नता हुई। वे कहने लगीं—महाराज, आपने ठीक उपाय बताया। यह उपाय अब तक मेरी बुद्धि में आया ही न था, अन्यथा आपको इतना क्रोध करने और कुछ कहने-सुनने का कष्ट ही न करना पड़ता। आपने ऋण चुकाने का उपाय बता दिया है, इसलिये आज आपके ऋण से हम अवश्य ही मुक्त हो जाएँगे। आपने उपाय बताने की बड़ी कृपा की है। अब हम अवश्य ही ऋण-मुक्त हो जाएँगे और आप अपना लेना भी पा जाएँगे। आप ठहरिए, मैं आज के ही सूर्य में ऋण चुकाए देती हूँ।

तारा की बात सुनकर विश्वामित्र आश्चर्यमग्न हो गए और विचारने लगे कि यह स्त्री, स्त्री नहीं, वरन् एक शक्ति है जो पति का ऋण चुकाने के लिए बिकने को भी तैयार हो गई। धन्य है इसे और इसके पति को भी धन्य है, जिसे ऐसी स्त्री प्राप्त हुई है।

१९. आत्म-विक्रय

विश्वामित्र को द्वार पर ठहराकर तारा महाराज हरिश्चन्द्र के पास गईं जो कोठरी में पड़े-पड़े अपने आपको कोस रहे थे। तारा ने उनके पास आकर कहा—नाथ उठिए, अब चिन्ता की कोई बात नहीं है। ऋण-मुक्त होने का उपाय विश्वामित्र ने स्वयं बता दिया है। आप मुझे बाजार में बेचकर ऋण चुका दीजिए। ऐसा करने से हम जहाँ ऋण-मुक्त होंगे, वहीं विश्वामित्र को उनका लेना भी मिल जाएगा और हम अपने सत्य की रक्षा कर सकेंगे।

तारा की बात सुनकर हरिश्चन्द्र का गला भर आया और कहने लगे—क्या मैं तुम्हें बेच दूँ! क्या आज मेरी ऐसी परिस्थिति हो गई है कि मुझे स्त्री बेचनी पड़े? हाय! हाय! स्त्री-विक्रेता पुरुष कहलाने की अपेक्षा तो मृत्यु श्रेष्ठ है। तुम स्त्री होती हुई भी मुझसे कई गुनी श्रेष्ठ हो जो अपने पति के वचन की रक्षा के लिए स्वयं बिकने को तैयार हो, लेकिन मैं पुरुष होते हुए भी अपने कर्तव्य के पालन में असमर्थ हूँ। हे भगवन्! अब कौन कह सकता है कि सत्य नहीं है। यदि ऐसा न होता तो आज तारा किस विश्वास

से बिकने के लिए तैयार होती ?

संसार में तीन प्रकार के मनुष्य हैं। एक तो वे जो ऋणी नहीं हैं परन्तु दान देते हैं, दूसरे वे हैं जो लेकर देते हैं और तीसरे वे हैं जो दोनों में से किसी प्रकार भी नहीं देते। अर्थात् न तो दान ही देते हैं और न लिया हुआ ऋण ही। ये तीनों प्रकार के मनुष्य क्रमशः उत्तम, मध्यम और नीच माने जाते हैं। बिना लिए देने में तो विशेषता है, परन्तु लेकर देने में कोई विशेषता नहीं है। फिर भी संसार में ऐसे-ऐसे मनुष्य निकलेंगे ही जो लेकर नहीं देते। ऐसे मनुष्यों की गणना न तो उत्तमों में होती है और न मध्यमों में ही।

किसी से ऋण लेकर उसे चुका देना भी जब मध्यम दर्जे की बात है अर्थात् अच्छा तो है बिना लिए देना या केवल वचन से देने का कहकर अनेक कष्ट सहकर भी देना तो कितनी विशेषता की बात है, जिसे आप स्वयं विचारें। हमारे देश में ऐसे कई उदाहरण हैं कि अपने वचन की रक्षा के लिए अपनी संतान तक को मृत्यु के मुख में दे दिया। राज्य से वंचित रखकर अपने प्रिय पुत्र को वन भेज दिया और आत्म-विक्रय द्वारा वचन का पालन किया।

इधर एक तो राजा स्वयं वैसे ही दुःखी हो रहे थे तो उधर ऊपर से विश्वामित्र जले पर नमक छिड़क रहे थे कि अरे घमंडी ! अभी तेरी अकड़ नहीं गई ! अब स्त्री को बेचेगा ? देख, अब मैं तुझे किस प्रकार के

दुःख-सागर में ला पटकता हूँ कि जिससे तुझे मालूम होगा कि आश्रम की बंदनी देवांगनाओं को छोड़ देने और ऊपर से हठ करने का क्या फल होता है ?

यह सब सुनकर तारा ने हरिश्चन्द्र से कहा—स्वामी आप चिन्ता न कीजिए। मैं किसी और कारण से नहीं, किन्तु सत्य-पालन के लिए बिक रही हूँ। सत्य-पालन के समय इस प्रकार की चिन्ता करना वीरों का काम नहीं है। इस-लिए अब देर न कर शीघ्र दास-दासियों के क्रय-विक्रय बाजार में चलिए और मुझे वहाँ बेचकर विश्वामित्र को एक सहस्र मुद्रा देकर हर्षित हों कि आज के सूर्य में ही हमने ऋण चुका दिया है। यह शोक का समय नहीं, वरन् प्रस-न्नता का है कि हमने अपने सत्य की रक्षा कर ली है।

यद्यपि रानी उसी सत्य के पालने की बात कह रही थीं, जिसके लिए राजा ने स्वयं इतने कष्ट सहे हैं। फिर भी उन्होंने रानी की बात का कुछ भी उत्तर नहीं दिया। पति की ऐसी दशा देखकर रानी ने विचारा कि पति स्वयं न तो मुझे बिकने की स्वीकृति ही दे सकेंगे और न चलने के लिए आगे ही होंगे। इधर सूर्य ढ़ल रहा है और इससे पहले ऋण न चुका तो सत्य से भ्रष्ट भी होंगे और बिकने से जो लाभ होना चाहिए, वह भी न होगा।

ऐसा विचार कर रानी ने अपने पास बची शेष भोजन-सामग्री से कोठरी तथा वर्तन आदि का किराया चुकाकर इधर-उधर से थोड़ा-सा घास एकत्रित कर लिया और सिर

पर रख* पति से कहने लगीं—स्वामी चलिए। यह समय दुःख करने का नहीं, किन्तु सत्य पालन करने का है। सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा है और यदि उससे पहले ऋण न चुका तो आप प्रतिज्ञा-भ्रष्ट हो जाएँगे।

विकने के लिए तारा को उद्यत देखकर हरिश्चन्द्र के प्राण सूखने लगे। वे अपने मुंह से कुछ भी न बोल सके और विश्वामित्र भी अवाक् रह गए। वे मन-ही-मन कहने लगे—मैं समझता था कि मैं योगी हूँ और अपने तपोबल से जिसे चाहूँ नीचा दिखा सकता हूँ, परन्तु यह मेरा भ्रम था। विपरीत इसके, इन गृहस्थों ने तो मुझे ही अपने सत्यबल से नीचा दिखा दिया है। पहले तो हरिश्चन्द्र ने ही राज्य देकर मेरा मानभंग किया और अब तारा दक्षिणा के लिए बिककर मेरे रहे-सहे अभिमान को भी नष्ट कर रही है।

तारा समझ गई कि दुःख-मग्न पति मेरे चल दिए बिना कदापि न उठेंगे, अतः वे रोहित को गोद में लेकर बाजार की ओर चल दीं। तारा को जाते देख विवश होकर हरिश्चन्द्र भी साथ हो लिए। आगे-आगे तारा, उनके पीछे हरिश्चन्द्र और उन दोनों के पीछे विश्वामित्र चलते हुए दास-दासियों के बाजार में आ पहुंचे।

भारत में भी किसी समय दास-दासी के क्रय-विक्रय की प्रथा प्रचलित थी, लेकिन इतिहास से यह प्रगट होता

---

* बिकने वाले दास-दासी अपने सिर पर थोड़ी-सी घास लेते थे। यह उनकी बिक्री का चिह्न माना जाता था।

है कि जिस समय अन्य देशों में यह प्रथा जोरों पर थी, उस समय भारत से इस प्रथा का अन्त हो चुका था। यद्यपि भारत में दास-दासी के क्रय-विक्रय की प्रथा थी अवश्य, लेकिन दास-वाणिज्य के विषय में लेखकों ने यूरोप के दासों के साथ होने वाले जिन घृणित और अमानुषिक व्यवहारों का वर्णन किया है, उनसे भारत सदा बचा रहा है। वैसा अत्याचार कभी नहीं होने दिया जैसा पाश्चात्य देशों में होता था। इतिहासकार कहते हैं कि इंगलैंड में तो यह प्रथा उन्नीसवीं शताब्दी तक बराबर जारी थी। भारत में भी कहीं-कहीं दासत्व प्रथा अभी शेष है; लेकिन दास-व्यवसाय नहीं होता और इस शेष प्रथा का भी क्रमशः अन्त होता जा रहा है।

रानी ने विचार किया कि पति तो दुःखवश मुझे बेच न सकेंगे, इसलिए मैं स्वयं ही अपने आपको बेचूं। वे बाजार में आवाज देकर कहने लगीं—भाइयो! मैं दासी हूँ, गृहोपयोगी सब कार्य कर सकती हूँ, अतः जिसको दासी की आवश्यकता हो, वह मुझे खरीद लें।

रानी के स्वरूप को देखकर लोग आश्चर्य करने लगे यह दासी तो विचित्र प्रकार की है। इस बाजार में अब तक ऐसी सुन्दर और सुडौल दासी कभी बिकने नहीं आई। इसकी सुकुमारता और रूप-लावण्य से प्रगट है कि यह कोई संभ्रांत महिला है, परन्तु विपत्ति के वश होकर बिक रही है। इन लोगों में से एक ने तारा से पूछा कि—तुम कौन हो, रहती हो और क्यों बिक रही हो?

तारा—मैं पहले ही कह चुकी हूँ कि मैं दासी हूँ। दासी का विशेष परिचय क्या। हाँ, यदि आप लोग चाहें तो मैं क्या-क्या काम कर सकती हूँ, यह अवश्य पूछ सकते हैं।

वह—तुम्हारा मूल्य क्या है ?

तारा—ये ऋषि खड़े हैं, इनके मैं और मेरे पति ऋणी हैं। इन्हें एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राएं देनी हैं। जो कोई इनकी एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राएं चुका देगा, मैं उसी के यहाँ दासीपना करने के लिए चलने को तैयार हूँ।

तारा का मूल्य सुनकर लोग भौंचक्के-से हो आपस में कहने लगे कि एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राएं देकर ऐसी कोमलांगी दासी खरीदकर क्या करेंगे ? जो स्वयं इतनी कोमल है, वह हमारा क्या काम कर सकेगी ?

उन लोगों में से कोई विश्वामित्र से कहने लगा कि—तुम साधु हो, तुम्हें धन की ऐसी क्या आवश्यकता है जो इसको बिकने के लिए विवश कर रहे हो ? कोई राजा के लिए कहता कि यह कैसा पुरुष है जो अपने सामने अपनी स्त्री को बिकते देखता है ? कोई तारा के बारे में ही कहने लगा कि यह स्वयं ही न मालूम कैसी स्त्री होगी जो इसका पति स्वयं अपनी उपस्थिति में इसे बिकने दे रहा है। इस प्रकार तीनों के लिए कटु शब्द कहकर सब चले गए। किसी ने भी तारा को खरीदने का विचार नहीं किया।

जिस स्थान पर बिकने के लिए तारा खड़ी थीं, वहीं वृद्ध और अनुभवी ब्राह्मण खड़ा हुआ इन सब बातों को

सुन रहा था। तारा की बातों और उनके लज्जादिक गुणों से उसने अनुमान किया कि यह कोई विपद्ग्रस्त विदुषी महिला है जो अपने आपको बेच रही है। उसके लक्षणों से प्रगट है कि यह गुणवती और सच्चरित्रा है। वे लोग तो मूर्ख हैं जो एक सहस्त्र स्वर्ण-मुद्राओं को इसकी अपेक्षा अधिक समझते हैं।

ऐसा विचार कर वह वृद्ध ब्राह्मण तारा से कहने लगा—भद्रे ! तुम्हारे लक्षणों से यह तो प्रगट ही है कि तुम किसी कुलीन घर की महिला हो और विपत्ति की मारी अपने आपको बेचकर इनका ऋण चुका रही हो। लेकिन क्या इतना और बता सकती हो कि यह ऋण किस बात का देना है ?

तारा—दक्षिणा का।

ब्राह्मण—आपका नाम, गोत्र आदि क्या है ?

तारा—इसके लिए तो मैं पहले ही कह चुकी हूँ कि मैं दासी हूँ और दासी का नाम, गोत्र आदि क्या पूछना ?

ब्राह्मण—यद्यपि तुम्हारे सद्गुणों को देखकर एक सहस्त्र स्वर्ण-मुद्राएँ अधिक नहीं है, किन्तु मेरे पास केवल पाँच सौ हैं। यदि तुम अपने बदले में इतनी मुद्राएं दिलाना स्वीकार करो, तो मैं देने को तैयार हूँ।

ब्राह्मण की बात सुनकर तारा विचारने लगीं कि अब क्या करना चाहिए ? देनी तो हैं एक सहस्त्र मुद्राएं और ये ब्राह्मण पांच सौ ही देते हैं। प्रसन्नता की बात है कि जहाँ

किसी ने मुझे एक पैसे में भी नहीं खरीदना चाहा था, वहाँ इन्होंने मेरी कीमत पांच सौ मुद्राएं तो लगाईं। यद्यपि इनसे सब ऋण तो नहीं चुकेगा, परन्तु आधी दक्षिणा मिल जाने से विश्वामित्र शांत अवश्य हो जाएंगे तथा शेष के लिए पति को कुछ और मियाद दे देंगे। जिसमें पति इनकी शेष मुद्राएं भी चुका देंगे और कुछ ही दिनों में मुझे भी छुड़ा लेंगे। अभी इनका भाग्य-सूर्य जो विपत्ति के बादलों में छिपा है, वह सदा छिपा न रहेगा।

ऐसा विचार कर तारा ने हरिश्चन्द्र से कहा—स्वामी, ये ब्राह्मण पांच सौ मुद्राएं देते हैं। यद्यपि ऋण चुकाने के लिए यह मुद्राएं पर्याप्त नहीं है परन्तु आधा ऋण अवश्य चुक जाएगा। अब आप जैसी आज्ञा दें वैसा करूं।

तारा की बात सुनकर विश्वामित्र ने विचारा कि इसको बिकवाकर पाँच सौ मुद्राएं ले लेना ही ठीक है। जो शेष पांच सौ रहेंगी, उनको भी अभी देने के लिए राजा ने तकाजा करूंगा। अब तो राजा के पास स्त्री भी नहीं है जो उसे बेचकर शेष ऋण चुका देगा। इस प्रकार वह कष्ट से घबराकर अपना अपराध स्वीकार कर लेगा, बस ! बात खत्म हो जाएगी। इसके सिवाय रानी के बिक जाने से जो अब तक इसे धैर्य देती रहती थी, फिर कोई धैर्य देने वाला भी न रहेगा। परिस्थिति के, स्त्री-वियोग के और मेरे ऋण के दुःख से कातर होकर यह अवश्य ही अपना अपराध स्वीकार कर लेगा।

हरिश्चन्द्र तो दुःख के आवेग में तारा की बात का कुछ भी उत्तर न दे सके, किन्तु इसी बीच विश्वामित्र बोल उठे कि–उससे क्या पूछती है ? पांच सौ देता है तो पांच सौ दिलाओ; जिससे मुझे कुछ तो संतोष हो !

विश्वामित्र की इस बात ने हरिश्चन्द्र के दुःखित हृदय में तीर का काम किया। वे मन-ही-मन कहने लगे हाय ! ऋणी होना भी कितने दुःख की बात है। यदि आज मैं ऋणी न होता तो तारा के इस प्रकार बिकने और विश्वामित्र के वाग्वाण सहने की क्या आवश्यकता होती ? संसार के वे लोग नितान्त अभागे और दुःखी हैं जिन पर दूसरे का ऋण है। लेकिन ऋण उनके लिये दुःखदाता है जो उसे चुकाना चाहते हैं और अपना सत्यपालन करना चाहते हैं जो दूसरे का ऋण डुबाने वाला है, उसके लिए तो ऋण का होना और न होना दोनों बराबर हैं।

विश्वामित्र की बात सुनकर तारा पति से कहने लगीं—नाथ ! ऋषि को इतनी मुद्राएं मिल जाने से कुछ संतोष हो जाएगा, इसलिए आप मुझे विकने की आज्ञा दीजिए।

कुछ ही दिन पूर्व जो दानवीर महाराज हरिश्चन्द्र दूसरों को दासत्व से मुक्त करते थे, जो मानव विक्रेताओं को दंड देते थे, उनकी ही इस समय अपनी स्त्री को विकते देख जो हृदय की दशा हुई होगी, वह अवर्णनीय है।

रानी के बहुत समझाने-बुझाने पर भी राजा कुछ न बोल सके, लेकिन सिर हिलाकर रानी को विकने की स्वीकृति

दे दी। रानी ने ब्राह्मण से कहा—महाराज, लाइये पांच सौ मुद्राएं ही दीजिए। ब्राह्मण से पांच सौ मुद्राएं लेकर राजा ने विश्वामित्र को सौंप दीं। मुद्राएं देकर ब्राह्मण ने जैसे ही तारा से कहा—दासी चलो! वैसे ही हजारों सेविकाओं से सेवित रानी को दूसरे के घर दासी बनकर जाते देख हरिचन्द्र को वज्राघात-सा दुःख हुआ और मूर्छित होकर गिर पड़े। उन्हें यह दुःख असह्य हो उठा कि आज से रानी 'दासी' कही जाएगी। इस समय होने वाले उनके हार्दिक दुःख का केवल अनुमान ही किया जा सकता है।

पति को मूर्छित होकर गिरते देख रानी घबरा उठीं और मन में कहने लगीं कि अब तक तो मैं इन्हें धैर्य बंधाती रहती थी, इनके दुःख को किसी प्रकार कम करती रहती थी, लेकिन अब इनकी क्या दशा होगी? ये तो अभी से इस प्रकार अधीर हो उठे हैं अब क्या करूं? पति को सांत्वना देने के लिए ब्राह्मण से आज्ञा प्राप्त कर रानी ने हरिश्चन्द्र के मुख पर आंचल से हवा की और उन्हें उठाकर बैठाया। हरिश्चन्द्र को कुछ सचेत देख रानी कहने लगीं—नाथ, यह समय दुःख से मूर्छित होने का नहीं किन्तु सत्य-पालन का है। सूर्यास्त होना ही चाहता है और यदि उससे पहले विश्वामित्र की दी हुई अवधि में ऋण न चुका तो आप सत्य से पतित हो जाएंगे। सत्यपालन के समय मूर्छित होने से काम नहीं चल सकता, इसके लिए तो हृदय को वज्र-

 दृढ़ बनाना पड़ेगा। आप तो मेरे जाने से ही इस

प्रकार दुःखी हो रहे हैं और मैं भी इस समय आप ही की तरह दुःखित हो जाऊँ तो फिर सत्य का पालन कैसे हो सकेगा ? नाथ ! जिस सत्य के लिये आपने राज-पाट छोड़ा, भूख प्यास आदि के दुःख सहते हुए मजदूरी की, विश्वामित्र के मर्मभेदी वचन सुने और मैं दासीपने का काम करने के लिए बिकी, क्या उस सत्य को आप खोना चाहते हैं ? सत्य को जाने देना वीरोचित और क्षत्रियोचित कार्य नहीं है। इस समय तो आपको प्रसन्न होना चाहिये कि मुझे जिस ऋण की चिन्ता थी, जिस ऋण के कारण सत्य चले जाने की नौबत आ गई थी, उसमें से आधा तो चुक गया है। आप किसी प्रकार की चिन्ता या दुःख न कीजिए और न मेरे लिए यह विचारिए कि जो रानी थी वह अब दासी हो गई है। मैं तो आज से नहीं, सदा से दासी हूँ। स्त्रियाँ जन्म से दासी होती हैं। जो स्त्री किसी की दासी न होकर स्वतन्त्र रहती है, वह पतित गिनी जाती है। इसके सिवाय मान भी लो कि मैं दासी बनी हूँ तो किसी अन्य कारण से नहीं, किन्तु सत्यपालन के लिए बनी हूँ। यह तो ब्राह्मण ने मुझे खरीदा है, लेकिन इस समय चांडाल भी मेरा मूल्य देता तो मैं प्रसन्नतापूर्वक उसकी भी दासी बनना स्वीकार कर लेती। अपने सत्य और धर्म की रक्षा करते हुए चाहे ब्राह्मण की दासी होऊँ या चांडाल की, दोनों बराबर हैं। मुख्य कार्य तो सत्य को न जाने देना है। आप पुरुष हैं, क्षत्रिय हैं और सूर्यवंश में जन्म लिया है। इतने कष्ट तो आपने सह लिए, अब

थोड़े-से कष्ट से अधीर होकर सत्यपालन से वंचित रहना आपके लिए शोभा नहीं देता है। आप सत्य पर विश्वास और धैर्य रखिए और प्रसन्नता से मुझे आशीर्वाद देकर विदा कीजिए। मेरे भाग्य में यदि आपकी सेवा करना लिखा होगा तो पुनः मैं अवश्य ही आपके दर्शन करूंगी।

रानी के इन शब्दों को सुनकर राजा के शरीर में बिजली दौड़ गई। सत्य का स्मरण कर सब दुःख भूल गए और उठ खड़े हुए। रानी से कहने लगे—तारा! मेरे सत्य की रक्षा तुमने ही की है। यदि तुम न होतीं तो मैं कभी का सत्यभ्रष्ट हो गया होता। तुम जो कहा करती थीं कि आधा ऋण मुझ पर है और मैं आधा कष्ट बांट लूंगी, वह तुमने सत्य कर दिखाया है। अब शेष ऋण की कोई चिन्ता नहीं है, तुमने ऋण चुकाने का मार्ग मुझे बता दिया है। अब मैं तुम्हें प्रसन्नतापूर्वक विदा करता हूँ और आशीर्वाद देता हूँ कि जिस सत्य के लिए तुमने इतने कष्ट सहे हैं, वही तुम्हारी रक्षा करे।

तारा—नाथ, आपको धन्य है। अब आप इस पुत्र को संभालिए। मैं बिकी हूँ, यह नहीं बिका है।

पति के हाथ पुत्र को सौंप और प्रणाम कर जैसे ही रानी ने चलने को पैर बढ़ाया कि रोहित जो यह सब देख रहा था, चीख उठा और माता से लिपटकर कहने लगा—माँ तुम मुझे छोड़कर कहाँ जाती हो? मैं भी तुम्हारे साथ [illegible]ंगा। मुझे छोड़कर मत जाओ, मुझे मत छोड़ो, मैं

तुम्हारा रोहित हूँ, तुम्हारा बेटा !

इन शब्दों ने माता के हृदय में क्या-क्या भाव उत्पन्न किए होंगे ? यह सभी जानते हैं। तारा के मातृ-हृदय में भी वही भाव पैदा हुए लेकिन उन्होंने धैर्य धारण करते हुए कहा—बेटा, मैं इन ब्राह्मण महाराज की सेवा करने जाती हूँ। तुम अपने पिताजी के पास रहकर उनकी सेवा करना।

रोहित—माँ, मैं पिताजी की सेवा करना नहीं जानता। मैं तो उन्हें प्रणाम करना जानता हूँ सो प्रणाम किए लेता हूँ। मैं तो तुम्हारी सेवा करूँगा और जब तुम पिताजी की सेवा करना सिखला दोगी, तब उनकी भी सेवा करूँगा।

जब तारा ने देखा कि रोहित किसी भी प्रकार पति के पास न रहेगा और कदाचित् रह भी गया तो उन्हें इसके पालन-पोषण में कष्ट होगा तो ब्राह्मण से प्रार्थना कर कहने लगी कि—महाराज यह बालक मुझे छोड़ता नहीं है। यदि आप आज्ञा दें तो इसे भी साथ ले लूं।

ब्राह्मण—मैं घर में अकेला नहीं हूँ, किन्तु पुत्र, पुत्र-वधू आदि और भी हैं। मैंने तुम्हें उनसे पूछकर नहीं खरीदा है, इसलिए इसी बात की चिन्ता है कि वे लोग इस विषय में मुझे न मालूम क्या कहें। अब यदि इसे और साथ ले लोगी तो इसके हठ करने, रोने आदि में तुम्हारा बहुत-सा समय जाएगा, जिससे तुम काम नहीं कर सकोगी। इसके सिवाय मैं तुम्हें भी खाना दूं और इसे भी, इस प्रकार दो मनुष्यों का भोजन व्यय क्यों सहन करूँ ?

ब्राह्मण की अन्तिम बात सुनकर राजा मन-ही-मन कहने लगे—सत्य तू अच्छी कसौटी कर रहा है। जिस बालक के सहारे से सैकड़ों लोग भोजन करते थे, आज उसी का भोजन भी भार हो रहा है।

ब्राह्मण की बात सुनकर रानी ने कहा—महाराज, यह बालक बड़ा विनीत है। हठ करना या रोना तो जानता ही नहीं। आप स्वयं ही इसके लक्षणों से जान सकते हैं कि कि यह होनहार बालक है। इसके लिए मैं आपसे पृथक् भोजन न लूंगी, आप मेरे लिए जो कुछ देंगे, उसी में से खाकर यह भी आपका कुछ काम करता रहेगा। कृपा करके इसे भी साथ ले चलने की आज्ञा दीजिए।

ब्राह्मण ने देखा कि जब यह इसके लिए पृथक् भोजन भी न लेगी, बल्कि यह लड़का भी मेरा काम करेगा तो साथ ले चलने की कहने में क्या हर्ज है? ऐसा विचार करके ब्राह्मण ने रोहित को साथ चलने की रानी को आज्ञा दे दी। ब्राह्मण की आज्ञा पाकर रानी पुत्र को लेकर ब्राह्मण के साथ चल दीं। राजा खड़े-खड़े तब तक उनकी ओर देखते रहे जब तक वे आंखों से ओझल नहीं हो गए। लेकिन रानी ने मुड़कर इसलिए नहीं देखा कि मेरे देखने से राजा को अधिक दुःख होगा।

लेकिन जाते समय रानी ने मन-ही-मन यह अवश्य ही कहा कि—हे संसार की स्त्रियो! मेरी दशा से तुम लोग ...छ शिक्षा ग्रहण करो। कुछ दिन पहले तक रानी कहलाने

वाली मैंने पति के वचन की रक्षा के लिए ही राज-सुख त्याग कर कष्ट सहे हैं और दासीपना स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, यदि इससे भी विशेष कष्ट हों तो उन्हें भी सहन करूंगी। आज यदि मैं राज-सुख के कारण गृहस्थी के कार्यों को न जानती होती या जानकर भी करने में लज्जा या आलस्य करती तो अपने पति की सहायता कभी नहीं कर पाती। आप भी धन-वैभव के मद में स्त्रियोचित कार्यों में कभी लज्जा या आलस्य न करें। अन्यथा जीवन तो कष्ट-मय होगा ही, लेकिन आप स्वयं सत्य का भी पालन नहीं कर सकेंगी। इसके सिवाय पति के सत्य की रक्षा के लिए अपने प्राण तक देने में संकोच न करें। यदि आप इस बात का ध्यान रखेंगी तो अपने धर्म का भी पालन करेंगी और संसार में अक्षय कीर्ति भी प्राप्त करेंगी।

यद्यपि रानी ने राजा को काफी धैर्य दिलाया था लेकिन रानी के आंखों से ओझल होते ही उनका धैर्य छूट गया और रानी के दासी बनने के दुःख से कातर बन मूर्छित होकर गिर पड़े। पुत्र का बियोग भी उन्हें असह्य हो उठा।

विश्वामित्र ने राजा की इस स्थिति से लाभ उठाना चाहा। उनका अनुमान था कि इस समय यदि मैं राजा से ऋण का तकाजा करके कुछ कटुवचन कहूँगा और दूसरी ओर अपराध स्वीकार के लाभ का लोभ दूंगा तो संभव है कि यह अपना अपराध स्वीकार कर ले। ऐसा विचार कर विश्वा-मित्र अपने वाग्बाण द्वारा हरिश्चन्द्र के दुःखित हृदय को और

भी छेदने लगे कि—अरे निर्लज्ज ! सूर्य तो अस्त होना चाहता है और तू इस प्रकार के ढोंग दिखला रहा है। यदि स्त्री-पुत्र इतने प्रिय थे, यदि दक्षिणा नहीं दे सकता था तो फिर तूने किस बल पर हठ की थी ? अब या तो मेरी शेष मुद्राएं सूर्यास्त होने से पूर्व दे दे या हठ छोड़कर अपराध स्वीकार कर ले। अपराध स्वीकार करने पर ये पांच सौ मुद्राएं लौटा दूंगा और शेष बची पांच सौ मुद्राएं भी छोड़ दूंगा व तुझे तेरा राज्य भी लौटा दूंगा।

विश्वामित्र ने ये बातें कहीं तो थीं किसी और अभिप्राय से कि राजा सत्य छोड़ना स्वीकार कर लेगा, लेकिन फल कुछ और ही हुआ। विश्वामित्र की इन बातों ने राजा को एक प्रकार की शक्ति प्रदान की। वे रानी की अंतिम शिक्षा को याद करके खड़े हो गए और विश्वामित्र से कहने लगे—आप और जो चाहे कटु वचन कह लें, लेकिन सत्य छोड़ने का कदापि न कहें। क्योंकि—

परित्यजेच्च त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः ।
यद्वाप्यधिकमेतेभ्यो न तु सत्यं कथंचन ॥
त्यजेच्च पृथिवीं गन्धमापश्च रसमात्मनः ।
ज्योतिस्तथा त्यजेद्रूपं वायुः स्पर्शगुणं त्यजेत् ॥
प्रभां समुत्सृजेदर्को धूमकेतुस्तथोष्मतां ।
त्यजेच्छब्दं तथा काशं सोमः शीतांशुतां त्यजेत् ॥
विक्रमं वृत्रहा जह्यात् धर्मं जह्याच्च धर्मराट् ।
नन्वहं सत्यमुत्स्रष्टुं व्यवसेयं कथंचन ॥

त्रैलोक्य के राज्य पर लात मारना, स्वर्ग-साम्राज्य को परित्याग करना एवं इनसे भी बढ़कर कोई वस्तु हो तो उसका भी परित्याग करना मुझे स्वीकार है, परन्तु सत्य से विलग होना मुझे कदापि स्वीकार नहीं हो सकता। पृथ्वी, जल, वायु, ज्योति, सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा ये सब अपने-अपने गुण और प्रकृति को चाहे छोड़ दें परन्तु मैं सत्य को किसी भी प्रकार न छोड़ूंगा। चाहे इन्द्र अपने पराक्रम को छोड़ दे या धर्मराज धर्म का त्याग कर दें, लेकिन मैं सत्य छोड़ने का प्रयत्न किसी भी प्रकार नहीं कर सकूंगा। इसको आप ध्यान में रखें।

महाराज! जिस सत्य के लिए मैंने राज्य देने में भी संकोच नहीं किया, जिस सत्य के लिए स्त्री, पुत्र सहित मैंने वन के कष्ट सहे, जिस सत्य के लिए मैं मजदूर और रानी मजदूरनी बनी, जिस सत्य के लिए मेरी स्त्री बाजार में दासी बनकर बिकी, तो क्या अब मैं पांच सौ मुद्राओं के ऋण से डरकर उस सत्य को छोड़ दूंगा? इतने कष्ट तो सह लिए और अब जरा-से कष्ट के लिए क्या मैं अपना सत्य छोड़ सकता हूँ? ऋषिजी, आप ठहरिए! मैं सूर्यास्त के पहले ही ऋण चुका दूंगा।

इस प्रकार विश्वामित्र को उत्तर देकर महाराज हरिश्चन्द्र रानी के छोड़े हुए घास को अपने सिर पर रखकर बिकने के लिए भी आवाज देने लगे।

राजा को बिकते देख पुनः लोगों के मन में वैसा ही

आश्चर्य पैदा हुआ जैसा रानी के बिकते समय हुआ था। इन लोगों ने रानी से किये गए प्रश्नों की तरह राजा से भी कुल, जाति आदि के बारे में प्रश्न किए, लेकिन राजा ने वैसे ही उत्तर दिए जैसे रानी ने बिकते समय दिए थे कि — मेरी जात-पांत, निवास-स्थान आदि का क्या पूछना ? हाँ यह अवश्य बतलाए देता हूँ कि संसार में पुरुषोचित जितने भी कार्य हैं, मैं उन सबको कर सकता हूँ।

यद्यपि राजा ने सब काम जानना, करना स्वीकार किया था, लेकिन पांच सौ मुद्राएं देकर उन्हें खरीदना किसी को भी उचित प्रतीत हुआ। सब लोग मूल्य अधिक बताकर मुँह बिचकाते हुए चले दिये।

उसी बाजार के एक कोने में खड़ा-खड़ा एक भंगी यह सब हाल देख रहा था। वह रानी को बिकते देख चुका था और राजा व विश्वामित्र की आपस में होने वाली बात-चीत को सुन चुका था। वह मन-ही मन विचारने लगा कि कैसे अच्छे दास-दासी बिक रहे हैं, परन्तु ये लोग मेरे यहाँ चलना क्योंकर स्वीकार करेंगे ? इसी विचार से वह रानी के बिकते समय भी कुछ नहीं बोल सका था और इसी विचार से अभी भी चुप खड़ा था।

लोगों के इस प्रकार चुपचाप बिना मूल्य लगाए चले जाने से राजा को बड़ी निराशा हुई और सोचने लगे कि क्या आज सूर्यास्त से पहले मैं ऋण न चुका सकूंगा ? यदि हुआ तो मुझे अपने कलंक को धोने के लिए कहीं भी

स्थान नहीं मिलेगा ।

भंगी खड़ा-खड़ा उन लोगों की मूर्खता को धिक्कार रहा था जो मूल्य अधिक बताकर चले गए थे । वह इस बात का निश्चय नहीं कर सका कि यह दास मेरे साथ चलेगा या नहीं ? चले, या न चले, फिर भी मैं तो अपनी ओर से पूछ ही लूं । ऐसा निश्चय कर भंगी राजा के पास आकर कहने लगा—महाशय, मैं भंगी हूँ । मेरे यहाँ श्मशान की रखवाली का काम है । यदि आप मेरे यहाँ चलना स्वीकार करें तो मैं आपको खरीद सकता हूँ ।

भंगी की बात सुनकर राजा को रानी की जाते समय कही गई बातों का स्मरण हो आया । राजा मन में कहने लगे कि रानी मुझ से कहती ही थीं कि यदि मुझे भंगी खरीदता तो मैं उसके यहाँ भी चली जाती । जब वह भंगी का दासत्व स्वीकार करने को तैयार थीं तो फिर मुझे भंगी का दासत्व स्वीकार करने में क्या हर्ज है ? मैं तो सत्य के हाथ बिक रहा हूँ, न कि भंगी के हाथ ।

इस प्रकार विचार कर राजा ने भंगी से कहा कि—मुझे आपका दासत्व स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है । आप जो आज्ञा देंगे, उसका मैं पालन करूंगा । आप मुझे खरीद लीजिए और मेरा मूल्य इन ऋषि को चुका दीजिये ।

राजा को भंगी के हाथ बिकने को तैयार देख विश्वामित्र मन-ही-मन प्रसन्न हो रहे थे कि अब सूर्यास्त में थोड़ा समय बाकी है अतः विवश होकर राजा अपना अपराध स्वी-

कार कर लेगा। लेकिन जब राजा भंगी का भी दासत्व करने पर उतारू हो गए तो विश्वामित्र की यह आशा भी मिट्टी में मिल गई। अतः उन्होंने एक बार और प्रयत्न करना चाहा और राजा से कहने लगे—क्या भंगी के हाथ बिकेगा ?

राजा—मुझे यह नहीं देखना है कि किसके हाथ बिक रहा हूँ, यदि कुछ देखना है तो यह कि मैं आपके ऋण से मुक्त हो रहा हूँ। इसके सिवाय—

विद्या विनय संपन्ने, ब्राह्मणे, गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिवः॥

जो पंडित यानी ज्ञानी हैं उनकी दृष्टि विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चांडाल पर एक-सी रहती है। अतएव ब्राह्मण हो या चांडाल, सत्यपालन में मेरे लिये दोनों ही बराबर हैं।

विश्वामित्र—देख हरिश्चन्द्र, अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा है, अब भी समझ जा और अपनी हठ छोड़कर अपराध स्वीकार कर ले तो इन सब विपत्तियों से भी छुटकारा पा जाएगा और तेरा राज्य भी तुझे वापस मिल जाएगा।

राजा—महाराज, कुछ बिगड़ने-न-बिगड़ने के लिए तो क्षमा कीजिए। आप जैसों की कृपा से ही सत्यपालन का यह स्वर्ण-अवसर मुझे प्राप्त हुआ है और ऐसे अवसर को खोने की मूर्खता मुझसे कभी नहीं हो सकेगी।

राजा के उत्तर को सुनकर विश्वामित्र क्रोध करते हुए

बोले—अच्छा, ला मुद्राएं। अभी नहीं, लेकिन आगे चलकर मालूम पड़ेगा कि हठ का परिणाम कितना भयंकर होता है।

विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र की बातचीत से भंगी समझ गया कि यह दास कोई कुलीन पुरुष है, लेकिन किसी कारण-विशेष से अपने आपको बेच रहा है। विश्वामित्र के "ला" कहते ही भंगी आवेश में आ गया और पांच सौ स्वर्ण मुद्राएं देकर राजा से पूछा—क्या और दूं? यदि और भी देना हो तो अधिक भी देने को तैयार हूँ।

हरिश्चन्द्र ने कहा—बस इतनी ही।

विश्वामित्र जब मुद्राएं ले चुके तब राजा ने हाथ जोड़कर कहा—महाराज, अब तो मैं आपके ऋण से मुक्त हो गया हूँ, अब कृपा करके आशीर्वाद दीजिए। मैं आपसे यही आशीर्वाद चाहता हूँ कि अवध की प्रजा को कष्ट न हो।

विश्वामित्र राज्य लेने के समय से ही हरिश्चन्द्र पर ऊपरी तौर पर तो क्रोध प्रगट कर रहे थे लेकिन अंतरंग में प्रशंसा करते हुए धन्यवाद देते थे। हरिश्चन्द्र की इस बात ने तो उनके हृदय को और भी नम्र बना दिया। वे मन-में कहने लगे—हरिश्चन्द्र, तुझे धन्य है। तूने भंगी का दासत्व स्वीकार किया, लेकिन सत्य से नहीं डिगा। तुझे जितना भी धन्यवाद दिया जाए, उतना ही कम है।

विश्वामित्र का ऋण चुक जाने पर राजा की प्रसन्नता का पारावार न रहा। उन्होंने परमात्मा का स्मरण करते हुए कहा कि आज भी मैं तेरे प्रभाव से सत्य का पालन

करने में समर्थ हो सका ।

हरिश्चन्द्र के ऋण-मुक्त होते ही सूर्य अस्त हो गया। संध्या की लालिमा चारों ओर इस तरह फैल गई मानो राजा हरिश्चन्द्र की दानवीरता दिग्दिगन्त तक व्याप्त हो गई हो। इसी समय पश्चात्ताप करते हुए विश्वामित्र एक ओर चले गए और प्रसन्न मन से महाराज हरिश्चन्द्र अपने मालिक भंगी के साथ उसके घर की ओर चल दिए ।

२० . ब्राह्मण के घर में तारा

संसार में जितने भी अच्छे कार्य हैं, चाहे वे कष्ट-साध्य हों, लेकिन उनका फल अच्छा ही होता है। शुभ कार्य के करने में होने वाले कष्ट, कष्ट नहीं, वरन सफल होने की तपस्या है। यदि तप करने, दान देने, सत्य पालने आदि में कष्टों का भय किया जाए तो इन कार्यों को करने वाला, कभी भी नहीं करेगा। यदि कोई कहे कि कष्ट पाप से होते हैं, धर्म से नहीं अतः जिन कार्यों से कष्ट हो वे पाप हैं, तो समझना चाहिए कि ऐसा कहने वाले लोग नितांत अनभिज्ञ हैं। यदि सत्कार्य बिना कष्ट के ही सफल होते हों तो फिर ऐसा कौन मूर्ख होगा जो सरलता से होने वाले सत्कार्यों को छोड़कर कष्ट सहने के लिए पाप करेगा? कौन ऐसा होगा जो सुख के कारण अच्छे कार्यों को न करके बुरे कार्यों को करेगा? इसके सिवाय यदि कष्ट होने से सत्कार्य पाप कहे जाएंगे तो उन कार्यों को धर्म मानना पड़ेगा, जिनमें कष्ट नहीं अपितु सुख होता है। संसार में बुरे कार्य भी सुख की आशा से किए जाते हैं और लोग उनमें भी सुख मानते हैं। जैसे व्यभिचार करना, चोरी करना आदि दुष्कार्यों को सभी बुरा कहते हैं लेकिन उनको करने वाले उनमें भी सुख

मानते हैं। संसार में प्रत्येक प्राणी जो कुछ भी करता है, सुख के लिए ही करता है। यह बात दूसरी है कि वह भ्रमवश दुःख के कारण को सुख और सुख के कारण को दुःख मानता हो। जैसे—योगी योग में सुख मानते हैं और भोगी भोग में। जिन कार्यों में करने वाला अपने आपको सुखी मानता हो वे काम न तो नितांत अच्छे ही हो सकते हैं और न नितांत बुरे ही। इसी प्रकार जिन कार्यों को करते समय कर्ता को दुःख होता है, वे काम भी न तो नितांत बुरे ही हो सकते हैं और न नितांत अच्छे ही। कार्य की अच्छाई या बुराई उसके फल पर निर्भर है। जैसे दुराचार करते समय उसका कर्ता उसमें सुख मानता है लेकिन उसका फल इस लोक में ही शरीर की दुर्बलता, हृदय की मलीनता आदि रूप में प्राप्त होता है और परलोक में भी वह दंड पाता है। इसी प्रकार योग-साधना में साधना के समय तो कष्ट होता है लेकिन उसका फल इस लोक और परलोक दोनों ही जगह लाभप्रद है। तात्पर्य यह है कि कार्य के करते समय होने वाले सुख-दुःख से यह नहीं कहा जा सकता है कि यह कार्य धर्म है या पाप, किन्तु उसके फल दुःख-सुख पर से इस बात का निर्णय हो सकता है।

हरिश्चन्द्र और तारा ने जो कुछ किया वह सुख की अभिलाषा से किया। यद्यपि इस समय उनको कष्ट अवश्य हो रहा था लेकिन अन्तिम फल सुख ही था। ये कष्ट तो पालन में काँटे सरीखे थे जो गुलाब का फूल प्राप्त

करते समय हाथों में लगा करते हैं । यह किसी प्रकार उचित नहीं माना जा सकता है कि कोई मनुष्य कांटे लगने के कारण ही सुगन्ध और कोमलता गुण वाले गुलाब के फूल को दुर्गन्धयुक्त और कठोर कहे । इसी प्रकार कष्ट होने के कारण परिणाम में अच्छे फल देने वाले सत्य-दान और पति सेवा को भी पाप कैसे कहा जा सकता है ? यदि पाप भी हों तो हरिश्चन्द्र को पुनः राज्य-प्राप्ति और इन्द्रादि देवों के प्रार्थना व प्रशंसा करने आदि के सुख किस धर्म के फल कहे जाएंगें ? इससे स्पष्ट है कि सत्कार्य चाहे कष्ट-साध्य हों लेकिन उनका फल सुखप्रद है, अतः सत्कार्य धर्म हैं और दुष्कार्यों के करने में चाहे सुख मिलता हो लेकिन उनका फल दुःखप्रद है, अतः वे पाप हैं ।

हरिश्चन्द्र और तारा इसी सत्य रूपी गुलाब के लिए ही दुःख रूपी कांटों को सह रहे थे । इसी के लिए उन्होंने सहष राज्य त्याग दिया और मजदूरी करने में भी उन्हें कुछ लज्जा नहीं हुई । उनका ध्येय तो सत्यपालन था और उसमें होने वाले प्रत्येक कष्ट को सहने के लिए वे तैयार थे ।

रोहित को लिये हुए तारा ब्राह्मण के घर आई । ब्राह्मण ने अपनी पत्नी, पुत्रवधू आदि को तारा को बतलाते हुए कहा कि—मैं यह दासी लाया हूँ ।

तारा के सौन्दर्य को देखकर ब्राह्मण के घर की स्त्रियां आश्चर्य में पड़ गई कि जिसकी आकृति ही बड़प्पन की सूचक है, यह दासी कैसे हुई ? इसके बारे में उन्होंने ब्राह्मण से

पूछा भी तो उसने उत्तर दिया कि– मैं स्वयं भी इस बात को नहीं जानता। तुम्हारे जैसे विचार मेरे मन में भी उठे थे और मैंने इससे पूछा भी था, लेकिन इसने अपना परिचय नहीं दिया। परिचय दे या न दे, लेकिन आकृति से यह अपने घर के उपयुक्त जान पड़ी, अतः मैं इसे ले आया हूँ। इसके लक्षणों से जान पड़ता है कि यह है तो गुणवती। इससे गृह-कार्य कराकर देखना कि यह विश्वास करने योग्य है या नहीं।

ब्राह्मण ने तारा को रहने के लिए एक छोटी-सी कोठरी और बिछाने के लिए एक चटाई दे दी। घर पहुंचते-पहुंचते रात हो चुकी थी, इसलिए उस रात तो तारा से कुछ काम नहीं लिया गया और विश्राम करने की आज्ञा दे दी।

तारा ने कोठरी को झाड़-बुहार कर चटाई पर रोहित को सुला दिया और स्वयं भी पति-वियोग और उनके कष्टों की चिन्ता करते हुए पड़ रही। वे विचार करने लगीं कि धर्मशाला में भी ऐसी ही कोठरी थी। वहाँ पर तो जमीन पर ही सोती थी, लेकिन यहाँ चटाई तो है। रोहित भी मेरे पास ही है। सूर्य भी वही है, चंद्र भी वही है, ग्रह, नक्षत्र, तारे, आकाश, पृथ्वी आदि भी वही हैं और मैं भी वही हूं, परन्तु बिना पति के ये सब अच्छे नहीं लगते हैं। मैं तो अपने ऋण से मुक्त होकर चली आई लेकिन वहाँ ी पर न मालूम क्या-कैसी बीत रही होगी।

इस प्रकार सोचते-विचारते रानी चिन्ता में डूब गईं। लेकिन थोड़ी देर बाद उन्हें ध्यान आया कि पति को तो मैं शिक्षा देती थी और अब स्वयं ही घबराने लगी हूँ। जिस सत्य का प्रभाव बतलाकर स्वामी को धैर्य बंधाती थी, वही सत्य अब भी उनकी सहायता करेगा। इसके सिवाय इस समय मेरे चिन्ता करने से कुछ भी लाभ होने वाला नहीं है। चिन्ता करने से शरीर और बल क्षीण होगा एवं खरीददार को मैंने जिन कार्यों के करने का विश्वास दिलाया है, उनको भी नहीं कर सकूंगी। ऐसा होने पर मैं उस सत्य से भ्रष्ट हो जाऊंगी, जिसके लिए इतने कष्ट सहे हैं।

इस प्रकार हृदय में धैर्य धारण कर तारा सो गई और नियमानुसार थोड़ी-सी नींद लेकर सूर्योदय से पहले सी उठ बैठीं एवं परमात्मा का नाम-स्मरण, प्रार्थना आदि करके ब्राह्मण के घर पहुंचीं। उस समय वहाँ सभी लोग सो रहे थे। तारा के आवाज देने पर घर का दरवाजा खुला। तारा को सामने खड़ी देखकर वे लोग आश्चर्य से कहने लगे कि— दासी तू अभी से आ गई। अभी तो सवेरा भी नहीं हुआ। तू इतनी जल्दी उठती है।

तारा— मैं दासी हूँ और मेरा कर्तव्य है कि मालिक के उठने से पहले उन कार्यों को कर डालूं जो पहले ही हो जाना चाहिये। आपकी बराबरी करके यदि मैं भी देर तक सोती रहूँ तो काम कैसे चले।

सबसे पहले तारा ने घर, पशुशाला आदि को झा-

साफ कर डाला। पश्चात् रात का शेष पानी छानकर पानी लाईं और बर्तन मांजकर भोजन बनाने लगीं। भोजन कर घर के सब लोग बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे कि—यह दासी क्या, घर में एक लक्ष्मी आई है। घर के सब काम इसने किस चतुराई से किये हैं और भोजन भी ऐसा अच्छा बनाया है कि आज जो स्वाद आया वह पहले कभी नहीं आया था।

रसोई आदि के कार्यों से निवृत होकर तथा स्वयं भी खा-पीकर तारा घर की स्त्रियों को शिक्षाप्रद बातें, गीत आदि सुनाने लगीं। जिन्हें सुनकर वे स्त्रियाँ और भी प्रसन्न हुईं एवं उसकी प्रशंसा करने लगीं।

तारा घर-गृहस्थी के सब कार्य बड़ी दक्षता और स्वच्छता से करतीं। गाय आदि से भी वे ऐसा प्रेम और उनकी ऐसा व्यवस्था करतीं कि वे दूध भी अधिक देने लगीं। इस प्रकार अपनी दक्षता से तारा ने घर के सब लोगों की सहानुभूति प्राप्त कर ली।

ब्राह्मण का युवा पुत्र तारा के सौन्दर्य और चतुराई पर मुग्ध हो गया। वह विचारने लगा कि यह दासी बिना शृङ्गार के ही इतनी सुन्दर मालूम पड़ती है तो शृङ्गार करने पर न मालूम कितनी सुन्दर लगेगी। अतः यह स्त्री-रत्न तो प्राप्त होना चाहिये, इसी में बुद्धिमानी है।

ब्राह्मण पुत्र के हृदय में तारा को अपनी प्रेयसी बनाने की अभिलाषा दिनोंदिन बढ़ने लगी और किसी न किसी बहाने

तारा से बात करने के मौके की तलाश में रहने लगा। तारा उसकी हरकतें ताड़ गयीं और उससे बचकर रहने लगीं। ब्राह्मण पुत्र ने जब देखा कि यह दासी मेरी ओर देखती ही नहीं है तो वह प्रलोभनों द्वारा तारा को अपने वश में करने के प्रपंच रचने लगा।

संसार में जो मनुष्य निर्लोभी हैं, उनको कोई अपने धर्म और कर्तव्य से विमुख नहीं कर सकता है। लोभ के कारण ही लोग धर्म से पतित हो जाते हैं, लेकिन जिन तारा ने धर्म के लिए राज-सुख और पति-सुख का भी लोभ नहीं किया, वे इन थोड़े से प्रलोभनों में कैसे फंस सकती थीं? लोभ को तो उन्होंने पहले ही जीत लिया था और इसी से वे अपने पति के सत्य की रक्षा और अपने कर्तव्य के पालन करने में समर्थ हो सकी थीं।

एक दिन तारा को अच्छी-सी साड़ी देते हुये ब्राह्मण पुत्र कहने लगा कि—तुम इस साड़ी को पहना करो, ये मोटे कपड़े तुम्हारे शरीर पर शोभा नहीं देते। तारा तो पहले ही उस धूर्त-लम्पट की दृष्टि को ताड़ चुकी थीं अतः साड़ी को न छूते हुये उत्तर दिया कि—आप यह साड़ी मालकिन को दीजिये। दासी को महीन और अच्छे कपड़े पहनना उचित नहीं है। इनसे आलस्य पैदा होता है और आलस्य से मालिक के कार्य में बाधा पड़ती है। हमें तो मोटा कपड़ा पहनना ही उचित है।

तारा के उत्तर से ब्राह्मण पुत्र को कुछ निराश

ग्रौर विचारने लगा कि मैंने तो सोचा था कि स्त्री-स्वभावानुसार साड़ी को देखते ही यह दासी ललचा उठेगी लेकिन इसने तो साड़ी को ही ठुकरा दिया है।

ब्राह्मण-पुत्र निराश होकर भी अभिलाषा-पूर्ति के उद्योग में लगा रहा। वह कभी-कभी तारा या रोहित को अच्छे-अच्छे पकवान ग्रौर रुपये-पैसे भी देने लगता, परन्तु उन्हें न तो तारा लेतीं ग्रौर न ही रोहित। तारा तो कह देतीं कि हमें मोटा ग्रनाज खाना ही उचित है, पकवान तो ग्राप लोग खाइये ग्रौर जब ग्राप मुझे भोजन ग्रौर कपड़े देते ही हैं तो रुपये-पैसे लेने की क्या ग्रावश्यकता है? रोहित भी ऐसा ही उत्तर दे देता कि–मेरा भोजन माता के भोजन से ग्रलग नहीं है, तो रुपये पैसे कैसे ले सकता हूँ।

प्रलोभनों द्वारा तारा को ग्रपने वश में करने के उपाय में भी जब ब्राह्मण-पुत्र ग्रसफल रहा तो उसने धर्म का सहारा लिया। वह एकांत स्थान में पुस्तकें खोलकर बैठ जाता ग्रौर तारा से कहता कि ग्राग्रो दासी तुम्हें धर्म सुनाऊं।

दुष्टजन धर्म को भी दुराचार की ढाल बनाते हैं। ऐसी ग्रनेक घटनाएं आज भी सुनने में ग्राती हैं जिनमें धर्म के नाम पर धर्म की ग्रोट में दुराचार किया गया हो। भोले-भाले लोग धर्म-वेशधारी लोगों पर विश्वास करके उनके धोखे में ग्रा जाते हैं, लेकिन केवल वेश पर विश्वास कर लेना बुद्धिमानी नहीं है। महाकवि तुलसीदास ने कहा है—

तुलसी देखि सुवेश, भूलहिं मूढ़ न चतुर नर।

सुन्दर केका पेख, वचन अमियसम अशन अहो ।

केवल अच्छे वेश को देखकर मूढ़ लोग धोखा खाते हैं, चतुर नहीं । अच्छे वेशधारियों में भी क्या दुर्गुण हो सकते हैं, इसके लिए मोर को देखो । देखने में मोर कैसा सुन्दर होता है, उसकी वाणी भी अमृत के समान होती है किन्तु यह सब होते हुए भी वह ऐसे कठोर हृदय वाला है कि जीवित सर्प को भी निगल जाता है । सारांश यह कि धर्म-वेशधारी का भी बिना परीक्षा किए यकायक अविचारपूर्वक विश्वास कर लेने से धोखा होने की संभावना रहती है । कभी-कभी ऐसे धोखे में पड़कर मनुष्य धर्मभ्रष्ट भी हो जाता है ।

यद्यपि ब्राह्मण पुत्र तारा को धर्म-कथा सुनने के लिए बुलाता, लेकिन वे कह देतीं कि धर्म सुनने की आवश्यकता उसको है जो धर्म न जानता हो । मेरा धर्म तो आप लोगों की सेवा करना है और उसे मैं समझती हूँ और करती हूँ । मुझे धर्म सुनने की आवश्यकता नहीं है और न मेरे पास इतना समय ही है कि मैं आपका धर्म सुन सकूँ ।

जब इस उपाय से भी ब्राह्मण पुत्र तारा को अपनी ओर आकर्षित न कर सका तो वह और दूसरे उपाय सोचने लगा । उसने विचारा कि स्त्री का प्रेम पुत्र पर अधिक रहता है । पुत्र के होते हुए वह किसी भी बात की अपेक्षा नहीं करती । इस दासी की भी यही दशा है । इसका भी प्रेम पुत्र ही है । मेरे से प्रेम होने देने में यह पुत्र ही बाधक है ।

किसी प्रकार यह दूर हो जाए तो मैं अपने कार्य में सफल हो सकूंगा ।

अपने मनोरथ में बाधक समझकर ब्राह्मण पुत्र रोहित को कष्ट देने लगा । वह कभी तो रोहित को ऐसे-ऐसे काम करने के लिए कहता कि जिन्हें कर सकना उसकी शक्ति से बाहर की बात होती थी । कभी किसी बहाने उसे इधर-उधर भटकाता तो कभी धमकाता और कभी मारता । रोहित तेजस्वी होनहार बालक था और अब परिस्थिति को समझने लगा था । अतः वह अत्याचारों को चुपचाप सह लेता, लेकिन यह सब देखकर तारा को दुःख होता था ।

एक दिन तारा ने ब्राह्मण पुत्र से नम्रतापूर्वक प्रार्थना की कि—रोहित अभी बालक है । आप उससे जो काम करने को कहते हैं, उनके करने में वह असमर्थ है । इसके सिवाय आपके यहाँ काम करने मैं आई हूँ, यह बालक मेरे ही भोजन में से भोजन करता है और इसके लिए आपसे अलग भोजन नहीं लेती हूँ । ऐसी अवस्था में आपको इसे कष्ट देना उचित नहीं है । यह बात दूसरी है कि रोहित अपनी इच्छा से कोई काम करे, लेकिन आपका इस प्रकार उस पर अत्याचार करना न्यायोचित नहीं कहला सकता है । कृपया आप इस बालक पर दया रखिए और कष्ट न दीजिए ।

तारा की यह प्रार्थना सुनकर ब्राह्मण पुत्र ने कहा—जब मैं तुम्हें अच्छा खाना, कपड़ा आदि देता हूँ, धर्म-कथा सुनने के लिए बुलाता हूँ, तब तो तुम अकड़ी-अकड़ी फिरती

है और सब देख रहे हैं।

तारा—और मुझे जो कुछ देना चाहते थे, वह [illegible] आपने [illegible] था, लेकिन मैंने नहीं लिया तो इसमें मेरी [illegible] हुई, आपको क्या हानि हुई, जो आप इस तरह क्रुद्ध होते हैं ?

तारा की इस प्रकार की बातें सुनकर ब्राह्मण पुत्र और अधिक क्रुद्ध हो उठा। उसने अपने घर में कह दिया कि तारा को दिया जाने वाला भोजन मुझे बिना बताये न दिया जाय। यह कहती है कि ज्यादा खाने से आलस्य पैदा होता है और उससे मालिक के कार्य में बाधा पहुंचती है। अतः इसे ज्यादा और अच्छा भोजन देना ठीक नहीं है।

अब तक तारा को एक मनुष्य के खाने लायक भोजन मिलता था और उसी में अपने पुत्र सहित निर्वाह करती थीं। लेकिन अब इतना कम भोजन मिलने लगा कि जो एक मनुष्य के पेट के लिये भी पूरा न पड़ता था। तारा भोजन लाकर रोहित को खिलाने के लिए बैठ जातीं। रोहित स्वभावानुसार मां से भी खाने को कहता परन्तु तारा उसे समझा देतीं कि तुम खा लो, फिर मैं भोजन कर लूंगी। कभी-कभी जब रोहित साथ खाने की हठ करने लगता तो तारा छोटे-छोटे ग्रास से खाने लगतीं। धीरे-धीरे रोहित समझता गया कि मेरी माता मेरे लिए भूखी रहती हैं।

ब्राह्मण पुत्र तारा को कम भोजन देकर भी शांत न हुआ। वह तारा से अधिकाधिक काम लेने लगा।

तो नहीं कहा जा सकता है। परन्तु इस स्थिति में भी जिन कष्टों का अनुमान किया जा सकता है, वे इनको उस रूप में अनुभव नहीं हो रहे थे। वे तो यही समझते थे कि ये कष्ट सत्य के चले जाने के कष्टों से कहीं लाख दर्जे अच्छे हैं। जब तक हमारा सत्य बना हुआ है, तब तक हमें कोई कष्ट नहीं है। जिस प्रकार एक तपस्वी को तपस्या करते देख अन्य लोग तो समझते हैं कि इन्हें कष्ट हो रहा है, लेकिन तपस्वी से पूछने पर वह यही कहेगा कि मुझे कोई कष्ट नहीं है, मैं तो तपस्या कर रहा हूँ। ठीक यही बात राजा और रानी के विषय में भी थी। देखने-सुनने वाले तो यही समझते थे कि इन्हें कष्ट हैं, परन्तु उनको कोई कष्ट नहीं था।

विश्वामित्र के ऋण से मुक्त होकर महाराज हरिश्चन्द्र भंगी के साथ उसके घर आए। उनके हृदय में न तो किसी प्रकार की ग्लानि थी और न संकोच, बल्कि सत्य की रक्षा हो जाने के कारण मन प्रसन्न था।

घर आकर भंगी ने अपनी पत्नी से कहा कि—ये विपद्ग्रस्त सत्पुरुष अपने यहाँ आए हैं। इनको नौकर न समझकर जो कुछ बन सके सेवा करना और अनुचित व्यवहार न होने देने का ध्यान रखना। किसी कवि ने कहा है कि हंस का तो यह दुर्भाग्य है जो उसे तलैया पर आना पड़ा, लेकिन उस तलैया के तो सद्भाग्य ही हैं कि उसके यहाँ मानसरोवर पर रहने वाला हंस अतिथि बनकर आया

है। इसी प्रकार इन सत्पुरुष के तो दुर्भाग्य हैं जो इन्हें अपने यहाँ आना पड़ा, परन्तु अपना तो सद्भाग्य ही है।

यद्यपि भंगी ने तो अपनी पत्नी को राजा के बारे में अच्छी तरह समझाया था, लेकिन कर्कशा स्त्रियों पर ऐसे समझाने का क्या प्रभाव हो सकता है? भंगिन भी कर्कश स्वभाव की थी, इसलिए पति के समझाये जाने पर उसे जहाँ राजा के प्रति सहानुभूति प्रगट करनी चाहिए थी, वहाँ वह अपने पति के समझाने का उल्टा ही अर्थ करने लगी कि—जब इनसे काम नहीं लेना था, तो क्या पांच सौ मुहरें खर्च करके इन्हें सूरत देखने को खरीदा है? मेरे गहनों आदि के लिए तो पांच मुहरें भी खर्च नहीं की जा सकती हैं और इस पापी के लिये थोड़ी-बहुत नहीं, पांच सौ मुहरें खर्च कर दीं?

अपने स्वाभावानुसार भगिन पति पर काफी क्रुद्ध हुई परन्तु भगी ने उसे पुनः समझा-बुझाकर और डाट-डपटकर शांत कर दिया।

राजा के कुछ दिन तो इसी प्रकार बिना काम के बैठे बैठे बीत गए। लेकिन राजा अपने मालिक भंगी से कहते रहते थे कि मुझे काम बतलाइये। बिना काम किए न तो मेरा समय ही शांति से बीतता है और न ऐसा करना अनुकूल ही है। लेकिन उत्तर में भंगी कहता कि बस आप बैठे रहिए और जहाँ इच्छा हो वहाँ घूमते रहिए तथा समय-समय पर अपने मुख से दो-चार धर्म के शब्द सुना दिया

कीजिए, यही आपका काम है।

राजा भंगिन से भी काम मांगा करते, लेकिन वह काम देने की बजाय कुड़कुड़ाने लगती। एक दिन राजा के काम मांगने पर भंगिन ने क्रोधावेश में राजा को घड़ा लेकर पानी भर लाने की आज्ञा दी। राजा बड़े प्रसन्न हुए कि क्रोधित होकर भी मालकिन ने काम तो बतलाया। वे घड़ा उठाकर पानी भरने चल दिये और उसी पनघट पर पहुंचे जहाँ रानी भी पानी भरने आई थीं।

पनघट पर पति-पत्नी ने एक दूसरे को देखा और हर्षित हुए। साथ ही यह विचार कर विषाद भी हुआ कि वे क्या थे और क्या हो गए हैं? लेकिन उन दोनों ने एक दूसरे के दर्शन के आनन्द से उस विषाद को दबा दिया। सच्चे प्रेमी कभी-न-कभी, किसी-न-किसी अवस्था में मिल ही जाते हैं। परमात्मपद अवश्य ही मिलता है। इसी प्रकार जिन राजा और रानी को एक दूसरे की खबर भी न थी कि वे कहाँ हैं तथा इस बात की भी आशा नहीं थी कि कभी एक दूसरे को देख सकेंगे, वे आज अनायास ही पनघट पर मिल गये थे।

पति-पत्नी ने एक दूसरे के कुशल समाचार पूछे। विश्वामित्र के शेष ऋण चुकाये जाने के बारे में रानी के पूछने पर राजा ने बताया कि—तुम्हारे बतलाये हुए मार्ग पर चलकर मैंने शेष ऋण भी चुका दिया है। सचमुच तुमने भविष्य जानकर ही कहा था कि सत्य के लिए मैं भंगी के

यहाँ भी बिक सकी हूँ। तुम्हारे निर्देशानुसार मैंने भंगी के यहाँ बिककर ऋण चुकाया है।

दोनों के हृदय में अपार आनन्द था और वे दोनों इसका कारण स्वामी की आज्ञा-पालन मानकर अपने-अपने खरीददार की प्रशंसा कर रहे थे कि यदि मालिक मुझे पानी भरने के लिये न भेजते तो यह आनन्द कहाँ से प्राप्त होता और एक दूसरे के बारे में उत्पन्न चिन्तायें कैसे मिटतीं ?

हर्ष-विषाद-मग्न दम्पति कुछ देर तक तो इसी प्रकार बातचीत करते रहे। पश्चात् तारा ने कहा—नाथ, यद्यपि आपसे दूर होने की इच्छा तो नहीं है लेकिन जिस प्रकार आप स्वतंत्र नहीं हैं, उसी प्रकार मैं भी स्वतंत्र नहीं हूँ। समय काफी हो चुका है, अतः अब अधिक देर करना मालिक को धोखा देना होगा।

राजा ने भी रानी की बात का समर्थन किया और दोनों अपने-अपने घड़े भरने लगे। ब्राह्मण का घड़ा लेकर आने से पनघट पर उपस्थित स्त्रियों ने रानी के घड़े तो उठवा दिये किन्तु राजा भंगी का घड़ा लेकर आए थे, इसलिए उनको किसी ने नहीं उठवाया।

राजा के पानी भरने का यह पहला ही दिन था अतः वे घड़ा उठाने में अभ्यस्त न थे। उन्होंने रानी से घड़ा उठवा देने के लिए कहा, परन्तु रानी ने उत्तर दिया—नाथ मुझे आपसे किसी प्रकार की घृणा नहीं है, लेकिन मैं ब्राह्मण के घड़े लेकर आई हूँ और आप भंगी का, इसलिए बिना

स्वामी की आज्ञा के मैं आपको घड़ा उठवाने में असमर्थ हूँ। आप घड़ा लेकर जल में चले जाइये । जल में वस्तु भारी नहीं पड़ती और वहाँ झुककर इसे अपने कंधे पर रख लीजिये।

रानी की इस तरकीब को सुनकर राजा बहुत ही प्रसन्न हुए और कहने लगे—यदि तुम आज घड़ा उठवा भी देतीं तो मेरे लिए भविष्य का कष्ट फिर भी बाकी रह जाता। परन्तु तुमने यह युक्ति बताकर आगे के लिये मेरा मार्ग साफ़ कर दिया और अपना धर्म भी बचा लिया ।

दोनों अपने-अपने घड़े उठा-उठाकर चल दिये । आज राजा मालकिन द्वारा काम मिलने और विपत्ति के समय बहुत दिनों से बिछुड़ी हुई पत्नी के दर्शन होने से बड़े प्रसन्न थे । लेकिन अभी भी सत्य की कसौटी होना शेष थी, इसलिए उनकी यह प्रसन्नता अधिक समय तक न टिक सकी । जिस दुष्ट देव ने सत्य से विचलित करने के लिये राजा को इतने कष्ट में डाला था, उसने मार्ग में घड़ा लेकर जाते हुये राजा को एक ऐसी ठोकर लगने की व्यवस्था कर थी कि जिसके लगते ही राजा गिर पड़े और घड़ा फूट गया । घड़े के फूटते ही राजा की सब प्रसन्नता काफूर हो गई । वे विचारने लगे कि अनेक बार प्रार्थना करने पर तो मालकिन ने आज पहली मर्तबा काम बताया, लेकिन वह भी बिगड़ गया । अब न मालूम वे क्या कहेंगी । जो होना था, सो हो गया । परन्तु जान-बूझकर तो फोड़ा नहीं, फिर भी मालकिन जो कहेंगी सुनना ही पड़ेगा ।

राजा को खाली हाथ लौटते देख भंगिन क्रुद्ध होकर कहने लगी कि–इतनी देर कहाँ लगाई और घड़ा कहाँ है ?

राजा से घड़े फूटने की घटना को सुनते ही भंगिन की क्रोधाग्नि भड़क उठी। उसने चिल्लाते हुये कर्कश स्वर में राजा को अनेक दुर्वचन सुनाये। लेकिन राजा बड़ी शांति से उन सबको सुनते हुये सहते रहे।

धर्म-पालन के समय यदि मनुष्य मानापमान का विचार करे तो वह धर्म के पालन में समर्थ नहीं हो सकता है। जो कष्ट सहने में धीर, बात सुनने में गंभीर हो तथा जिसे मानापमान का विचार न हो, वही मनुष्य धर्म का पूर्ण-तया पालन कर सकता है। इस प्रकार हरिश्चन्द्र भी यदि सत्यपालन के लिए मानापमान का विचार करते और आई हुई विपत्तियों को न सहते तो कभी के सत्य भ्रष्ट हो चुके होते। लेकिन धैर्यवान पुरुष न तो सुख को सुख ही समझते हैं और न दुःख को दुःख ही। वे प्रत्येक दशा में समभाव रखते हैं। कहा भी है—

> क्वचिद् भूमीशैया क्वचिदपि च पर्यंक शयनं,
> क्वचिच्छाकाहारः क्वचिदपि च शाल्योदन रुचि।
> क्वचिद् कंथाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बर धरो,
> मनस्वी कार्यार्थी, न गणयति दुःख न च सुखम्॥

कभी भूमि पर ही पड़े रहना तो कभी सुन्दर पलंग पर सोना, कभी सागपात खाकर गुजर करना तो कभी सुरुचि-पूर्ण दालभात का भोजन मिलना, कभी फटी हुई गुदड़ी पह-

नने को मिलना तो कभी दिव्य सुन्दर वस्त्रों को धारण करना आदि सभी दशाओं में मनस्वी कार्यार्थी पुरुष सुख या दुःख नहीं मानते हैं। अर्थात् वे प्रत्येक दशा में समभाव रखते हैं।

इसी प्रकार राजा को भी मानापमान, सुख-दुःख, वियोग-मिलन आदि का ध्यान नहीं था। वे तो यही विचार कर रहे थे कि चाहे जितनी गालियाँ सुननी पड़ें, अपमानित होना पड़े और चाहे जितने कष्ट सहने पड़ें, लेकिन मुझसे सत्य न छूटे। इसी विचार से वे भंगिन के कटु शब्दों को सहते हुए भी उसके प्रति कृतज्ञता प्रगट करते रहे कि माल-किन की कृपा से ही आज मुझे रानी के दर्शन हुए हैं।

जिस समय भंगिन राजा को दुर्वचन कह रही कि उसी समय भंगी भी बाहर से आ गया। राजा के प्रति अपनी पत्नी का ऐसा दुर्व्यव्यवहार उसे असह्य हो उठा। वह डंडा लेकर भंगिन को मारने के लिए दौड़ा और कहने लगा कि—मैंने तुझे कितना समझाया, लेकिन तू फिर भी नहीं समझी, अब तू मेरे घर से ही निकल जा।

मालिक को क्रुद्ध देखकर राजा दोनों के बीच में खड़े होकर कहने लगे—आप इन्हें कुछ न कहिये। मैं आपसे काम मांगा करता था लेकिन आपने आज तक मुझे कभी काम नहीं बताया। लेकिन इन्होंने आज काम बतलाया भी, सो भी मुझसे पूरा न हो सका। अब यदि ये मुझ पर क्रुद्ध हो रही हैं तो इसमें इनका क्या दोष? यदि मैं घड़ा फोड़कर आया होता तो ये क्रुद्ध ही क्यों होतीं? यदि ये कुछ

कहती हैं तो अनुचित ही क्या है ? आप मुझ पर दया करिए और मेरी प्रार्थना स्वीकार करके इन्हें कुछ न कहिए ।

राजा की बात सुनकर भंगी और भंगिन दोनों आश्चर्य-चकित रह गये । भंगिन विचारने लगी कि मैंने तो इन्हें इतनी गालियाँ दी, इतने दुर्वचन कहे और फिर भी ये मेरी प्रशंसा ही कर रहे हैं । भंगी सोचने लगा कि ये कैसे विचित्र मनुष्य हैं कि जो अपने को गाली देने वाली का भी पक्ष कर रहे हैं ।

राजा का कहना मानकर भंगी ने अपने विचार बदल दिए और राजा की प्रशंसा करते हुए बोला—महाराज, यह दुष्टा आपको सदा दुर्वचन कहती रहती है और इधर आप भी सदैव काम मांगा करते हैं । अतः आप श्मशान भूमि पर चले जाइए और रखवाली करते रहिए । वहाँ मृतक का अग्नि-संस्कार करने के लिए आने वालों से संस्कार करने से पहले लकड़ी आदि दाह-सामग्री के मूल्य-स्वरूप एक टका लेते रहिए । ऐसा करने से आपको काम भी मिल जाएगा और इस कर्कशा के पंजे से भी बचे रहेंगे ।

मालिक के आदेशानुसार राजा श्मशान-भूमि में रहकर मालिक की आज्ञा का पालन करने लगे ।

२२. स्वावलम्बी रोहित

राजा हरिश्चन्द्र और रानी तारा यद्यपि इस समय परतंत्र हैं लेकिन उनकी भावना स्वतंत्र ही है। रोहित तो पहले भी स्वतन्त्र था और अब भी स्वतन्त्र है, अतः उसने स्वतन्त्रता की उपासना छोड़ना स्वीकार न की।

प्रत्येक प्राणी में स्वतन्त्रता की भावना एक प्रकृतिदत्त श्रेष्ठ गुण है। इसी कारण स्वतन्त्रता का अधिकार सबको प्राप्त है। यद्यपि स्वतन्त्रता अच्छी और परतन्त्रता बुरी है लेकिन परतन्त्रता के संस्कारों के वश यह गुण धीरे-धीरे लुप्त होता जाता है और परतन्त्र प्राणी परतन्त्रता में ही आनन्द मानने लगते हैं। यद्यपि स्वतन्त्रता अच्छी और परतन्त्रता बुरी है, लेकिन परतन्त्रता के संस्कारों के कारण यह अच्छाई-बुराई नहीं दीखती और ऐसे जीव परतन्त्रता को ही अच्छी समझने लगते हैं। इसके विरुद्ध जो मनुष्य स्वतंत्रता का तनिक भी आभास पा जाता है उसके लिए परतन्त्रता नरक के समान दुःखदायी हो जाती है।

यद्यपि रोहित अपनी माता के भोजन में से भोजन करता था, किन्तु विचारता रहता था कि मेरे लिए ही माता भूखी रहती है। ऐसी दशा में मुझे उसके भोजन में

से भोजन करना उचित नहीं है। अधिक नहीं तो कम-से-कम मुझे अपने उदर-पोषण के लायक भोजन तो उपार्जन कर ही लेना चाहिए।

ऐसा विचार कर रोहित ने अपनी माँ तारा से कहा — अब मैं अपने लिए स्वयं भोजन उपार्जन करूँगा। यह मुझे स्वीकार नहीं है कि आपके भोजन में से खाकर काम भी करूँ और अत्याचार भी सहन करता रहूँ। कल से मैं अपने लिए आप भोजन ले आया करूँगा और फिर थोड़े दिनों बाद आपको भी इस कष्ट से छुड़ा लूंगा तथा पिताजी को भी खोज निकालूंगा।

रोहित की बात सुनकर तारा गद्‌गद् हो उठीं। ऐसी माता कौन न होगी जो अपने पुत्र के स्वतन्त्र विचार सुन-कर प्रसन्न न हो? उन्होंने प्रसन्नता प्रगट करते हुए रोहित से कहा—बेटा तुम्हारा विचार है तो उत्तम, लेकिन अभी तुम बालक हो। बड़े हो जाने पर अवश्य ही ऐसा करना।

रोहित—नहीं माँ, अब मैं आपका लाया हुआ भोजन भी नहीं करूँगा, इस घर का काम भी नहीं करूँगा और न अत्याचार सहूँगा। यदि मैं छोटा हूँ तो मेरा पेट भी छोटा है। मैं इसके लिए भरने लायक भोजन तो अपने इन छोटे-छोटे हाथों से अवश्य ही उपार्जन कर लूंगा। इस घर में बिकी आप हैं, इसलिए आप इनके अधीन रहिए, मैं नहीं रह सकता। मैं तो स्वतन्त्र रहूँगा।

तारा रोहित की इन बातों का कुछ भी उत्तर न दे

सकीं। उन्होंने कहा—अच्छा, तुम जो लाओ, वह लाया करो, उसे हम दोनों मिलकर खाया करेंगे।

एक बालक तो रोहित है, जिसके हृदय में स्वतंत्रता के भाव पैदा हो रहे हैं, जो परतंत्र नहीं रहना चाहता और एक आज के भारतीय हैं जो भारत की ही वस्तु खा-पहनकर भी परतंत्र रहना चाहते हैं। भारत में उत्पन्न रूई का कपड़ा पहनें, भारत में उत्पन्न अनाज खाएं, फिर भी विदेशियों के अधीन रहने में अपना गौरव मानते हैं। इस अन्तर का कारण परन्त्रता के वे संस्कार हैं जिनके बंधन में देश अधिक समय तक जकड़ा रहा और उससे यहाँ के अधिकांश निवासियों के संस्कार ही ऐसे हो गए हैं कि वे गुलामी में ही सुख अनुभव करते हैं, स्वतंत्रता में उन्हें सुख का लेश भी दिखलाई नहीं देता है।

दूसरे दिन सवेरे ही रोहित वन की ओर चल दिया। वहाँ पर उसने वृक्ष पर चढ़कर अच्छे-अच्छे फलादि तोड़े। उनमें से कुछ तो स्वयं खाए और कुछ मां के लिए रख दिए।

प्राचीन समय में राजा लोग वन पर अपना अधिकार न रखकर प्रजा के लिए छोड़ देते थे। प्रजा के बहुत से मनुष्य वन के द्वारा ही अपनी आजीविका चलाते थे। कोई गाय आदि पशु चराकर अपनी आजीविका कमाते थे और कोई उसमें उत्पन्न फल-फूलादि खाकर अथवा बेचकर अपने

व्यतीत करते थे। वन पर किसी व्यक्ति विशेष का

नियंत्रण नहीं था, किन्तु सबको समानाधिकार प्राप्त था।

इसके अलावा वन के होने से वर्षा बहुत होती थी, जिससे अन्नादि अधिक उत्पन्न होते थे और मनुष्य को शुद्ध वायु भी खूब मिलती थी। लेकिन जब से वन पर राज्य का नियंत्रण हो गया है और वे नष्ट कर डाले गए हैं, तब से प्रजा, देश और पशुओं के कष्ट बढ गए हैं। आज पशुओं की जो क्षति और दुर्बलता दिखलाई देती है, अनाज की उत्पत्ति की कमी सुनी जाती है, उसके कारणों में से एक कारण वन की कमी या उस पर राज्य का नियंत्रण होना भी है।

फल खाकर और कुछ फल मां के लिए लेकर रोहित घर आया। इधर तारा चिंतित हो रही थीं कि आज न मालूम रोहित कहाँ चला गया। रोहित को देखते ही तारा की चिन्ता मिट गई और उन्होंने रोहित से पूछा—बेटा ! आज तुम कहाँ चले गये थे ?

रोहित—मां आज मैं वन में गया था। वहाँ प्रकृति की छटा देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। जिस प्रकार आप मेरी माता हैं, उसी तरह प्रकृति सारे संसार की माता है। जिस प्रकार आप स्वयं कष्ट उठाकर मुझे भोजन देती हैं, उसी प्रकार वह भी संसार को भोजन देती है। इन फलों को देखो। इनसे मेरा भी पेट भर जाएगा और आपका भी। अब मैं आपके भोजन में से भोजन नहीं करूंगा। किन्तु अपना लाया हुआ भोजन आप किया कीजिए और मेरा लाया हुआ भोजन मैं किया करूंगा। अब मुझसे यह नहीं हो सकेगा कि

चाहा था, लेकिन ये लोग तो और भी स्वतंत्र हो गए। यह तो बड़ी विचित्र स्त्री है, अब इससे बचकर रहने में ही लाभ है, अन्यथा किसी दिन अनर्थ हो जाएगा। ऐसा विचार कर ब्राह्मण पुत्र ने तारा से किसी प्रकार की अनुचित आशा रखना छोड़ दिया और कष्ट देना बंद कर दिया।

प्रतिदिन रोहित वन से फल ले आता। कभी-कभी तारा उन फलों में से थोड़े फल ब्राह्मण पुत्र को देकर कहती कि आप इनको खाकर देखिये, ये कैसे अच्छे हैं। कभी इन हाथों से मैंने बहुत कुछ दान दिया है, लेकिन अब तो मैं स्वयं ही आपका दिया हुआ भोजन करती हूँ, तो दान कहाँ से करूं ? रोहित के अपने उद्योग से लाए हुये फलों में से मुझे दान करने का भी अधिकार है, अतः आप इन्हें खाइये।

तारा के दिये हुए फलों को लेते हुए ब्राह्मण पुत्र ऊपर से तो प्रसन्नता व्यक्त करता था परन्तु मन-ही-मन उसे रोहित की इस स्वातंत्रप्रियता पर डाह होती थी।

तारा और रोहित इसी प्रकार प्रसन्नता पूर्वक अपने दिन व्यतीत करते जा रहे थे।

दूसरे के अधीन रहकर बात सुनूं। मैं अपना स्वतंत्र जीवन व्यतीत करूंगा और आपको भी इस दुःख से छुड़ाऊंगा।

पुत्र की बातें सुनकर तारा को होने वाली प्रसन्नता का वर्णन नहीं किया सकता है। उन्होंने समझ लिया कि रोहित क्षत्रिय-पुत्र है, वीर बालक है। इसलिए पराधीन रहने वाला नहीं हो सकता है।

तारा ने रोहित से कहा—बेटा! केवल फलों के खाने से ही शरीर सशक्त नहीं रह सकता और बिना शक्ति के तुम कैसे तो मुझे इस परतंत्रता से छुड़ा सकोगे और कैसे अपने पिताजी को खोजकर लाओगे? इसलिए मेरे लाये हुए भोजन में से भोजन किया करो।

रोहित—यदि आप मेरे लाये हुए भोजन में से भोजन करना स्वीकार करें तो मैं भी आपके भोजन में से भोजन कर सकता हूँ, अन्यथा नहीं।

तारा ने रोहित की बात स्वीकार कर ली और दोनों एक दूसरे के लाये हुए भोजन में से भोजन करने लगे।

बहुत समय से रोहित को न देखकर एक दिन ब्राह्मण पुत्र ने तारा से पूछ लिया कि—आजकल रोहित दिखलाई नहीं देता है। तारा ने बतलाया कि—अब वह अपना स्वतंत्र जीवन व्यतीत करता है।

तारा की बात सुनकर ब्राह्मण पुत्र साश्चर्य विचारने कि मैंने तो इन्हें कम भोजन देकर अपने वश में करना

चाहा था, लेकिन ये लोग तो और भी स्वतंत्र हो गए। यह तो बड़ी विचित्र स्त्री है, अब इससे बचकर रहने में ही लाभ है, अन्यथा किसी दिन अनर्थ हो जाएगा। ऐसा विचार कर ब्राह्मण पुत्र ने तारा से किसी प्रकार की अनुचित आशा रखना छोड़ दिया और कष्ट देना बंद कर दिया।

प्रतिदिन रोहित वन से फल ले आता। कभी-कभी तारा उन फलों में से थोड़े फल ब्राह्मण पुत्र को देकर कहतीं कि आप इनको खाकर देखिये, ये कैसे अच्छे हैं। कभी इन हाथों से मैंने बहुत कुछ दान दिया है, लेकिन अब तो मैं स्वयं ही आपका दिया हुआ भोजन करती हूँ, तो दान कहाँ से करूं? रोहित के अपने उद्योग से लाए हुये फलों में से मुझे दान करने का भी अधिकार है, अतः आप इन्हें खाइये।

तारा के दिये हुए फलों को लेते हुए ब्राह्मण पुत्र ऊपर से तो प्रसन्नता व्यक्त करता था परन्तु मन-ही-मन उसे रोहित की इस स्वातंत्रप्रियता पर डाह होती थी।

तारा और रोहित इसी प्रकार प्रसन्नता पूर्वक अपने दिन व्यतीत करते जा रहे थे।

दूसरे के अधीन रहकर बात सुनूं। मैं अपना स्वतंत्र जीवन व्यतीत करूंगा और आपको भी इस दुःख से छुड़ाऊंगा।

पुत्र की बातें सुनकर तारा को होने वाली प्रसन्नता का वर्णन नहीं किया सकता है। उन्होंने समझ लिया कि रोहित क्षत्रिय-पुत्र है, वीर बालक है। इसलिए पराधीन रहने वाला नहीं हो सकता है।

तारा ने रोहित से कहा—बेटा! केवल फलों के खाने से ही शरीर सशक्त नहीं रह सकता और बिना शक्ति के तुम कैसे तो मुझे इस परतंत्रता से छुड़ा सकोगे और कैसे अपने पिताजी को खोजकर लाओगे? इसलिए मेरे लाये हुए भोजन में से भोजन किया करो।

रोहित—यदि आप मेरे लाये हुए भोजन में से भोजन करना स्वीकार करें तो मैं भी आपके भोजन में से भोजन कर सकता हूँ, अन्यथा नहीं।

तारा ने रोहित की बात स्वीकार कर ली और दोनों एक दूसरे के लाये हुए भोजन में से भोजन करने लगे।

बहुत समय से रोहित को न देखकर एक दिन ब्राह्मण पुत्र ने तारा से पूछ लिया कि—आजकल रोहित दिखलाई नहीं देता है। तारा ने बतलाया कि—अब वह अपना स्वतंत्र जीवन व्यतीत करता है।

तारा की बात सुनकर ब्राह्मण पुत्र साश्चर्य विचारने गा कि मैंने तो इन्हें कम भोजन देकर अपने वश में करना

आशा के सहारे ही वे दासीपने में भी प्रसन्न थीं।

यद्यपि इसी आशा के सहारे किसी-न-किसी प्रकार तारा के दिन बीत रहे थे, लेकिन अभी भी उनके सत्य की खास कसौटी का होना तो शेष ही थी। इसी कारण उनकी यह आशा अधिक दिन तक न टिक सकी। विपत्ति आशा पर ही आघात करती है और उसी का नाश करती है। यदि वह आशा का नाश न करे तो फिर कोई भी मनुष्य अपने आपको विपत्ति में न समझे और न उससे घबराए।

नियमानुसार रोहित प्रतिदिन वन से विभिन्न प्रकार के फलों को लाता और तारा उनमें से आप भी खातीं तथा दूसरों को भी देतीं। यद्यपि तारा इस प्रकार अपना जीवन व्यतीत कर रही थीं, लेकिन हरिश्चन्द्र को सत्य से भ्रष्ट करने की प्रतिज्ञा करने वाले देव से तारा का यह सुख भी देखा गया और उसने एक वार पुनः राज-दम्पति को सत्य भ्रष्ट करने की चेष्टा करने का विचार किया।

२३ . एक और आघात

संसार में मनुष्यों का जीवन विशेषत: आशा पर निर्भर है। यदि एक क्षण के लिए भी आशा मनुष्य का साथ छोड़ दे तो संभवत: मनुष्यों की जीवन-नौका पार लगना कठिन हो जाए। प्रत्येक मनुष्य अन्धेरे के बाद उजेला, विपत्ति के बाद संपत्ति और दु:ख के बाद सुख की आशा करता है। यदि यह न हो तो उसका जीवन भार रूप हो जाए। निराशावादी मनुष्यों के प्रत्येक कार्य में निराशा-ही-निराशा दिखलाई देती है, इस कारण वे निरुद्यमी, भीरु और आलसी बन जाते हैं। उनका जीवन दु:खमय हो जाता है और वे किसी भी सत्कार्य को प्रारम्भ करने का साहस नहीं कर पाते हैं। लेकिन आशावादी घोर दु:खों का सामना होने पर भी निराश नहीं होते हैं। कदाचित् वे किसी कार्य में असफल भी रहें तो भी निराशा को पास नहीं फटकने देते और उद्योग करते रहते हैं। तारा आज परतन्त्र हैं और इस बात पर विश्वास करने का कोई कारण नहीं था कि उन्हें कोई पांच सो स्वर्ण-मुद्राएं देकर दासीपने से मुक्त करेगा, फिर भी उन्हें अपने पुत्र से इस बात की आशा थी कि वह बड़ा होकर अपने उद्योग से मुझे तथा पति को दासत्व से छुड़ाएगा। इस

आशा के सहारे ही वे दासीपने में भी प्रसन्न थीं।

यद्यपि इसी आशा के सहारे किसी-न-किसी प्रकार तारा के दिन बीत रहे थे, लेकिन अभी भी उनके सत्य की खास कसौटी का होना तो शेष ही थी। इसी कारण उनकी यह आशा अधिक दिन तक न टिक सकी। विपत्ति आशा पर ही आघात करती है और उसी का नाश करती है। यदि वह आशा का नाश न करे तो फिर कोई भी मनुष्य अपने आपको विपत्ति में न समझे और न उससे घबराए।

नियमानुसार रोहित प्रतिदिन वन से विभिन्न प्रकार के फलों को लाता और तारा उनमें से आप भी खातीं तथा दूसरों को भी देतीं। यद्यपि तारा इस प्रकार अपना जीवन व्यतीत कर रही थीं, लेकिन हरिश्चन्द्र को सत्य से भ्रष्ट करने की प्रतिज्ञा करने वाले देव से तारा का यह सुख भी न देखा गया और उसने एक बार पुनः राज-दम्पति को सत्य से भ्रष्ट करने की चेष्टा करने का विचार किया।

नित्य की तरह रोहित वन में गया। उसने वहाँ का प्रत्येक वृक्ष देख डाला लेकिन उस दुष्ट देव की माया से उसे एक भी फल न मिला। वह बहुत घूमा-फिरा, किन्तु सब निष्फल रहा। रोहित मन-ही-मन कहने लगा—आज क्या बात है? क्या प्रकृति ने वत्सलता छोड़ दी है? तभी तो अपनी गोद में आये हुए बालक को आज भूखा रख रही है। आज अवश्य ही वह मुझसे क्रुद्ध है।

रोहित को फल ढूंढ़ते-ढूंढ़ते काफी समय व्यतीत हो

चुका था। अब भूख भी सताने लगी थी। उसने वृक्षों के कुछ पत्ते खाए परन्तु भूख न मिटी। इधर ऊपर से माता की चिन्ता भी उसे सता रही थी कि यदि मैं बिना फल लिए जाऊँगा तो मुझे माता के भोजन में से ही भोजन करना पड़ेगा और उन्हें भूखा रहना पड़ेगा, जो मेरे लिए सर्वथा अनुचित है।

इस विचार से रोहित घर न जाकर फल ढूंढ़ता रहा और भूख से नितांत विकल होकर एक वृक्ष के नीचे लेट गया। भूख के मारे उसे नींद नहीं आई और लेटे-लेटे परमात्मा का स्मरण करने लगा।

रोहित परमात्मा का स्मरण कर ही रहा था कि समीप ही किसी वस्तु के गिरने की आहट सुनाई दी। उसका ध्यान भंग हुआ और उठकर आस-पास देखा तो एक पका हुआ आम का फल दिखाई दिया। प्रसन्न होकर रोहित ने वह फल उठा लिया और चूसने लगा। उसे वह फल इतना स्वादिष्ट जान पड़ा कि वैसा फल उसने पहले कभी खाया ही न हो। एक तो उसे इस समय भूख लगी थी और दूसरे फल था भी कुछ अधिक स्वादिष्ट। फल खाने से रोहित की भूख बहुत कुछ मिट गई और उसे शांति मिली।

जब रोहित फल खा चुका तो उसे ध्यान आया कि ऐसा अच्छा फल बिना माँ को दिए मैं अकेला ही क्यों खा गया? यदि इस फल को मैं माता के पास ले जाता तो कैसा अच्छा होता? लेकिन धिक्कार है भूख को, जिसने इस

समय मुझे माता का ध्यान नहीं रहने दिया। अब इस फल के वृक्ष को खोजकर और उसमें से फल तोड़कर माता के पास ले जाऊँगा।

इस प्रकार का विचार करके रोहित इधर-उधर उस फल के वृक्ष को देखने लगा। उसे पास ही ऐसे फलों से लदा हुआ एक आम का वृक्ष दीख पड़ा। उसे देखकर वह विचारने लगा कि इन वृक्षों को तो मैं पहले ही अच्छी तरह देख चुका था, लेकिन मुझे एक भी फल दिखलाई नहीं पड़ा था। अब मैं इस वृक्ष में से बहुत से फल ले जाकर अपनी माता को दूंगा तो वे स्वयं इन्हें खाकर तथा दूसरों को देकर बहुत प्रसन्न होंगी।

यह सोचकर रोहित जैसे ही वृक्ष पर चढ़ने के लिए उसके समीप पहुँचा तो उसकी दृष्टि तने से लिपटे हुए भयानक काले सर्प पर पड़ी। वह सर्प अपनी लाल-लाल आंखों से रोहित की ओर देखने तथा फुफकारने लगा। आज के बालक तो क्या, यदि युवक भी होते तो उस विकराल सर्प को देखकर भाग जाते। लेकिन रोहित वीर बालक था और तारा ने शिक्षा द्वारा उसकी रग-रग में वीरता भर दी थी। वह सर्प से किंचित् भी भयभीत न हुआ, बल्कि स्वयं भी अपनी आंखें लाल करके सर्प से कहने लगा—ओ विषधर ! तू वृक्ष घेरकर क्यों बैठा है ? फल तो खाता नहीं, वह तो मनुष्यों का आहार है, फिर तूने इस वृक्ष पर क्यों अधिकार कर रखा है ? इस वृक्ष के फलों का अधिकारी मैं हूँ,

नहीं, अतः यहाँ से चला जा ।

रोहित की बातें सुनकर सर्प ने एक वार पुनः फुफकारा कि यदि तुझे अपने प्राण प्रिय हैं तो यहाँ से चला जा । लेकिन रोहित ऐसी फुफकारों से कब डरने वाला था। उसने कहा फल तेरे काम के नहीं हैं, इसलिए तू वृक्ष को छोड़ दे, लेकिन तू तो अपने अभिमान में सुनता ही नहीं है। मैं तुझसे फिर कहता हूँ कि तू इस वृक्ष को छोड़कर चला जा । मैं अपने अधिकार की वस्तु तेरे डराने से कदापि नहीं छोड़ूंगा । मेरी माता प्रतीक्षा कर रही होंगी, वे मेरे लिए भूखी होंगी, मैं इन फलों को उनके लिए ले जाऊँगा । इसलिए तू वृक्ष को छोड़ दे, देर न कर ।

रोहित की इन बातों को सुनकर भी सर्प न हटा, बल्कि पुनः फुफकारा । रोहित कहने लगा—मैं तुझसे पहले ही कह चुका हूँ कि मैं अपने अधिकार की वस्तु किसी प्रकार नहीं छोड़ूंगा, फिर भी तू मुझे डरा रहा है । यदि तू नहीं हटता है तो मत हट । मैं दूसरी तरह से वृक्ष पर चढ़कर फल तोड़ लूंगा ।

रोहित के इस कार्य का नाम सत्याग्रह है । भय या आपत्ति से न डरकर अपने अधिकारों की प्राप्ति व रक्षा का उपाय करना ही सत्याग्रह है । रोहित के ऐसे करने से प्रगट है कि उस समय के बालक भी सत्याग्रह करना जानते थे, लेकिन आज के अधिकांश वृद्ध भी सत्याग्रह का नाम
र ही डरते सुने जाते हैं । इस अन्तर का कारण शिक्षा

का अन्तर ही है। पहले के बालकों को वीरता की शिक्षा दी जाती थी, लेकिन आजकल के बालकों को कायरता की शिक्षा दी जाती है। जहाँ पहले के बालकों को सिखाया जाता था कि वे किसी से भय न करें, वहाँ आज के बालकों को भूत-प्रेत के झूठे भय से डराया जाता है। इस तरह आज के बालकों में जब कायरता की भावना भरी जाती है तो वे सत्याग्रह करें तो करें कैसे। सत्याग्रह वीर ही कर सकता है, कायर नहीं।

जब सर्प ने मार्ग न दिया तो रोहित आसपास की फैली हुई डालियों में से एक को पकड़कर वृक्ष पर चढ़ने लगा तो सर्प ने दौड़कर उसके पैर में डस लिया। सर्प के डसते ही रोहित छटपटाकर भूमि पर गिर पड़ा और क्षण भर में सारे शरीर में विष फैल गया।

छटपटाते हुए रोहित आप-ही-आप कहने लगा—माता तारा! आज तुम्हारा रोहित विनष्ट······है। ······समीप कोई नहीं है, आज से तुम्हें माता कहने वाला ····न रहेगा। पिताजी····· कहाँ हैं········तुम दासीत्व के बंधन में जकड़ी हो। विचारता तो था····तुम्हें ·· बंधन मुक्त······और पिताजी को खोज लाऊँगा लेकिन····· निराश हो······ । माता·····कौन तुम्हें सुनाएगा और········ क्या जीवित रह सकोगी। लेकिन अब तुम अपने रोहित को न देख पाओगी। माता······चिन्ता न करना। मैं वीरों की तरह मर रहा हूँ। तुम्हारी शिक्षा ने·········। तुमने मेरे लिए कष्ट सहे, अपने

प्राण······मानती थीं लेकिन······जा रहा हूँ। यह तुम्हारे धैर्य की परीक्षा का समय है। पिताजी ! एक बार······ अपने प्यारे······रोहित को देखो ! आज····· जा रहा हूँ। माताजी को······· कौन धैर्य बंधाएगा ! लेकिन अब सब चिन्ता छोड़ ·····मुझे तो परमात्मा का स्मरण करना······ चाहिए जो तिन्नाणं······तारयाणं हैं। संसार में जीते जी ······के सब सम्बन्ध हैं। जीव अकेला आता······जाता है। कोई·····साथी नहीं। बड़े······बड़े राजा-महाराजा········ संसार से अकेले गए। उन्हें मौत से·····नहीं बचा सका। जिस काया पर······घमंड करता है, वह यहीं पड़ी रह जाने वाली है। आत्मा अपने शुभाशुभ कर्मों······का स्वयं फल भोगता है।

इस प्रकार परमात्मा एवं संसार के स्वरूप का विचार कर रोहित फिर कहने लगा—माता ! मेरा अन्तिम प्रणाम। पर मेरा प्रणाम·····तुम तक······पहुंचेगा या नहीं, कौन ···तुम्हें पहुंचायेगा। अब तो आप से अन्तिम विदा ·····। कहते-कहते रोहित बेहोश हो गया, जीभ लड़खड़ाने लगी। शारीरिक हरकत बंद होने लगी।

कुछ लोगों ने सर्प द्वारा रोहित को डसते और गिरते देखा था। वे दौड़कर आम के पेड़ के नीचे इकट्ठे हो गए। रोहित को देखकर वे आपस में विचार करने लगे कि न मालूम यह सुन्दर बालक किसका है ? देखते-देखते इसका कोमल शरीर काला पड़ता जा रहा है। बार-बार तारा का नाम लेता है।

हो-न-हो इसकी माता का नाम तारा है लेकिन न मालूम वह कहाँ रहती है। यदि किसी को मालूम हो तो बेचारी को खबर कर दो, जिससे अपने पुत्र का अन्तिम बार मुख तो देख ले। इतने में एक ने बताया कि अमुक ब्राह्मण के यहाँ तारा नाम की दासी है। इस बालक को भी उसी के यहाँ देखा है। शायद यह बालक उसी तारा का हो। यह बहुत थोड़ी देर का मेहमान है। बेचारी को खबर कर दो।

यह सुनकर आसपास भीड़ में खड़े हुए बालक खबर देने के लिए उस ब्राह्मण के घर की ओर दौड़ पड़े, जहाँ तारा रहती थीं।

२४ . शोकार्त तारा

दौड़ते-दौड़ते बालकगण जब ब्राह्मण के घर पहुँचे तो उस समय तारा रोहित की ही चिन्ता कर रही थीं । प्रति-दिन के समय से बहुत समय व्यतीत हो जाने पर भी उसके न आने से तारा विकल थीं । वे मन-ही-मन अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प कर रही थीं । इतने में बालकों ने तारा के निकट पहुंचकर कहा कि—तुम्हारा पुत्र तुम्हें पुकारते-पुकारते मूर्छित होकर गिर पड़ा है ।

तारा ने घबराकर पूछा—कहाँ ? मैं तो उसकी बहुत देर से प्रतीक्षा कर रही हूँ ।

बालक—है तो दुःखद समाचार और उसके सुनने से तुम्हें ही दुःख होगा । परन्तु न सुनाने से तो नुकसान ही है । इसलिए सुनाये देते हैं । तुम्हारे बालक को जं ल में पेड़ पर चढ़ते हुए सर्प ने डस लिया है और बेहोश होकर पड़ा है । कहीं शायद हमारे यहाँ तक पहुँचने से पहले ही उसने अपनी संसार-यात्रा समाप्त न कर दी हो ?

मनुष्यों और सब दुखों को सहन कर सकते हैं, परन्तु संतान-वियोग का दुःख उन्हें असह्य हो उठता है । कई संतानों के होने पर भी जब किसी एक के वियोग का दुःख सहन

करने में भी उनका धैर्य छूट जाता है तो जिसके एक ही संतान हो और उसका भी वियोग हो जाये तो धैर्य का छूट जाना स्वभाविक है।

बालकों ने तारा को यह समाचार नहीं सुनाया था वरन् उन पर वज्रप्रहार ही किया था। समाचार सुनते ही तारा इतनी अधिक अधीर हो उठीं कि तत्क्षण मूर्च्छित हो गईं। लेकिन अभी भी उन्हें पुत्र-वियोग के दुःख को सहकर अपने सत्य की परीक्षा देना शेष था अतः यह मूर्छावस्था भी अधिक देर तक नहीं रह सकी।

रोहित, तारा का एकमात्र पुत्र था। उसी के सहारे वे अपने ये दिन व्यतीत कर रही थीं, उसी को देखकर प्रसन्न रहती थीं और उससे सुन्दर भविष्य की आशा रखती थीं। परन्तु दुष्ट देव ने तारा से उनका यह सहारा भी, यह रत्न भी छीन लिया। तारा के हृदय पर इसका कैसा आघात हुआ होगा, यह तो अनुमान से ही जाना जा सकता है।

जिस समय तारा मूर्छित पड़ी थीं और आसपास बालक उनको घेरे खड़े थे तो उस समय ब्राह्मण भी वहाँ आ गया। उसने बालकों से पूछा—क्या बात है? बालकों ने वृतान्त सुनाकर कहा कि इस समाचार को सुनते ही यह मूर्छित होकर गिर पड़ी हैं। ब्राह्मण ने विचार किया कि लड़का तो मर ही चुका है, परन्तु कहीं उसी के दुःख में यह भी न मर जाए। नहीं तो मेरी पांच सौ स्वर्ण-मुद्राएं यों ही डूब जाएंगी। यह सोचकर ब्राह्मण ने तारा को होश में लाने के लिए उनके

मुख पर ठंडे पानी के छींटे मारे । होश में आते ही तारा रोहित-रोहित कहते हुए पुन: विलाप करने लगीं ।

इस पर तारा की ताड़ना करते हुए ब्राह्मण बड़बड़ाने लगा—जब मैं कहता था कि अपने बालक को कहीं जाने न दे, तब मेरी बात पर ध्यान नहीं दिया और अब उसके लिए विलाप करती है । अब क्या तू भी रो-रोकर उसके साथ अपने प्राण देगी और मेरी मुद्राएं डुबोएगी ? जा, और उसका जो कुछ भी करना हो, सो करके जल्दी वापस आ ।

ब्राह्मण के इन क्रूर शब्दों से दु:खित तारा के हृदय को कैसी चोट पहुंची हो, इस बात को प्रत्येक सहृदय व्यक्ति समझ सकता है । लेकिन अपनी विवशता में इन्हें सुन लेने के सिवाय तारा क्या कर सकती थीं ? फिर भी तारा ने अपने मन में ब्राह्मण को धन्यवाद ही दिया कि कम-से-कम बिना मांगे इन्होंने पुत्र का अन्तिम संस्कार करने के लिए मुझे समय तो दे दिया !

संसार का यह अटल नियम है कि या तो दु:ख सहानुभूति से कम होता है या ताडना से । कहीं-कहीं दोनों से दु:ख बढ़ भी जाता है, किन्तु अधिकतर कम ही होता है । ब्राह्मण की ताडना से तारा एक क्षण के लिये अपना दु:ख भूल-सी गईं । उन्होंने धैर्य धारण करके ब्राह्मण से कहा—पिताजी जो होना था सो हुआ, परन्तु अब मैं अकेली अबला वहां जाकर क्या कर सकूंगी ! इसलिए दया करके या तो आप साथ चलिए या किसी और को साथ भेज दीजिए,

जिसे यदि कोई उपचार किया जा सकता हो तो कर सकें।

परिस्थिति को देखते हुए तारा के इन शब्दों का एक सहृदय मनुष्य पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ सकता था, किन्तु उस हृदयहीन ब्राह्मण ने तो उल्टे तारा को फटकारते हुए कहा—वह तो मर ही चुका है, अब उस मरे हुए का क्या करना है ? वन के मरे को गांव या घर तो लाना नहीं है, फिर तेरे साथ हम कहाँ-कहाँ घूमते फिरेंगे। जा, जल्दी जा। देर मत कर और उसकी अन्त्येष्ठि कर जल्दी आ जा, देर मत करना।

जिन तारा की सेवा में सदैव सैकड़ों सेविक-सेविकाएं उपस्थित रहती थीं, जिनके मुख से बात निकलते ही काम होता था, जो स्वयं दूसरे को दुःख में सहायता किया करती थीं, उन्हीं तारा को आज ऐसा उत्तर सुनने को मिला और वह भी उस समय जबकि उनका प्रिय पुत्र मरा हुआ पड़ा था। लेकिन तारा इस उत्तर से उतनी दुःखित नहीं हुईं, जितना दुःख उन्हें पुत्र का था। उन्होंने ब्राह्मण की तरफ से निराश होकर बालकों से कहा—भाइयो चलो, चलकर दिखा दो कि वह कहाँ पड़ा है। बालकों ने तारा की बात मान ली और वे विलाप करती हुईं उन बालकों के साथ उस ओर चल पड़ीं, जहाँ रोहित मरा पड़ा था।

बालकों ने दूर से ही तारा को शव दिखला दिया। तारा ने दौड़कर उसके शव को छाती से चिपका लिया और बिलख-बिलख कर रोने लगीं।

शोक किसके लिए कर रही हो ? इस शरीर से जितना भी सुकृत्य हो जाए, वही अच्छा है। इस बालक के जीवन का अंत वीरों की तरह हुआ है और तुमने भी सत्य को इसी प्रकार पाला है कि आज सारे संसार में तुम्हारी कीर्ति व्याप्त है। अब क्या पुत्र-शोक से व्यथित होकर अपने उस सत्य धर्म को छोड़ना चाहती हो ! जिस सत्य के लिए राजपाट छोड़ा, जिस सत्य के लिए तुमने मजदूरी की, जिस सत्य के लिए बिककर दासीपना किया, क्या उस सत्य को अब पुत्र-शोक से कातर होकर छोड़ दोगी ? याद रखो कि तुम बिकी हुई हो, तुमको उस ब्राह्मण ने पांचसौ स्वर्ण-मुद्राएं देकर मोल लिया है। यदि तुम पुत्रशोक से ऐसी कातर होकर अपने प्राण त्याग दोगी तो क्या उस ब्राह्मण के साथ विश्वा-सघात होना नहीं कहलाएगा और तुम अपने धर्म से पतित हुई नहीं कहलाओगी ? भद्रे ! तुम मरने के लिए भी स्वःतन्त्र नहीं हो। अतः अपने मरने के विचार का परित्याग करो और कातरता छोड़कर अपने धर्म पर ध्यान दो। तुम्हें, तुम्हारे मालिक ने कुछ समय का ही अवकाश दिया है। यदि उसको विलाप में व्यतीत कर दोगी तो फिर तुम स्वामी आज्ञा के उल्लंघन की पातिकिन हो जाओगी। इसलिए धैर्य धारण करके पुत्र की अन्त्येष्ठि-क्रिया करगे का विचार करो। वीर क्षत्राणी अपने वीर पुत्र के लिए कभी कातर नहीं होती है। उसमें भी तुम सूर्यवश की कुलवधू हो, दानवीर महा-राज हरिश्चन्द्र की धर्मपत्नी हो और रोहित जैसे वीर और

स्वतन्त्रता-प्रिय बालक की माता हो। तुम्हें इस प्रकार शोक करना शोभा नहीं देता है। इसके सिवाय शोक करने से कष्ट का निवारण नहीं हो सकता, मिट नहीं सकता, तो फिर शोक करने से ही क्या लाभ? अतः वीर क्षत्राणी की तरह धैर्य धारण करके अपने कर्तव्य का विचार करो।

सज्जन के इस उपदेश ने तारा के हृदय में बिजली का-सा असर किया। वे साश्चर्य विचार करने लगीं कि ये सज्जन मुझे कैसे पहचानते हैं। इन्होंने जितनी भी बातें कहीं हैं, उनसे स्पष्ट है कि मुझसे अच्छी तरह परिचित हैं। इनका उपदेश भी उचित है। वास्तव में मैं दूसरे के यहाँ दासी हूँ। बिना खरीददार की आज्ञा के मैं थोड़ा-सा भी समय नही बिता सकती हूँ, तो मरने के लिए कैसे स्वतन्त्र कही जा सकती हूँ? जिस सत्य की अब तक रक्षा की है, वह मेरे आत्मघात करने पर कदापि नहीं बच सकता है। अब तो मेरा यही कर्तव्य है कि रोहित की अपेक्षा सत्य को अधिक समझकर रोहित की चिन्ता न करूँ और वही कार्य करूँ, जिसके करने से सत्य की रक्षा हो।

सज्जन के समझाने से तारा का मन स्वस्थ हुआ। उन्होंने अपने हृदय के दुःख को दबाकर रोहित की अन्त्येष्ठि-क्रिया करने का विचार किया। लेकिन उन्हें फिर ध्यान आया कि बिना किसी की सहायता के मैं अकेली स्त्री क्या कर सकूंगी? कहाँ श्मशान है, अन्त्येष्ठि-क्रिया कैसे की जाती है, आदि बातों से भी मैं अनभिज्ञ हूँ, अतः यदि इन सज्जन

की सहायता मिल जाए तो मेरा यह कार्य अच्छी तरह से हो जाएगा ।

तारा अपने मन में ऐसा विचार कर रही थीं कि उस दुष्ट देव ने यहाँ भी तारा का पीछा न छोड़ा । उसकी माया के प्रभाव से तारा के आसपास खड़े हुए लोग अपनी-अपनी ओर चल दिए । तारा के आवाज देने पर भी किसी ने ध्यान नहीं दिया और अकेली ही रह गईं ।

तारा के विलाप करने और उन सज्जन के समझाने में ही संध्या हो गई थी । अमावस्या की काली रात्रि अपना भयंकर अन्धकार फैलाती जा रही थी । सियार, उल्लू, भेड़िये आदि अपने-अपने भयावने शब्द सुना रहे थे । आकाश में घने काले बादल छा रहे थे । ऐसी विकराल भयानक और अन्धेरी रात में वन के बीच तारा अपने मृतपुत्र को लिए हुए अकेली बैठी थीं । प्रार्थना करने पर भी समीप के लोगों के चले जाने से तारा को होने वाले दुःख की बात अनुमान से ही जानी जा सकती है ।

रोहित के शव को गोद में लेकर विपाल करती हुई तारा कहने लगीं—रोहित ! बेटा रोहित, तुम किस नींद में सोए हो । उठो, अपनी अभागिनी माता को तो देखो, जो तुम्हारे लिए रो रही है । चुपचाप क्यों पड़े हो ? तुम तो सदा अपनी माता से अनेक प्रकार की बातें करके दुःखों को दूर कर दिया करते थे, आश्वासन दिया करते थे, फिर आज क्यों निष्ठुर बन गए हो ? बेटा रोहित ! क्या यह

सोने का समय है ? क्या यह समय अपनी माता को छोड़ने का है ? फिर क्यों पड़े हो ? तुम्हारी सूरत तो वैसी ही है जैसी मेरी गोद में सोने पर रहा करती थी, फिर आज क्यों बोलते नहीं हो ? क्या अपनी मां से रूठ गए हो ? अब मेरा कौन है जो मुझे आश्वासन देगा ? तुम तो कहा करते थे कि मैं बड़ा होकर तुम्हें मुक्त कराऊंगा और पिताजी को भी खोज लाऊंगा, परन्तु आज बोलते तक नहीं हो ? अब तक तो आशा थी कि बड़े होकर तुम अपने माता-पिता को दुःख से मुक्त करोगे, परन्तु अब कौन यह आशा पूरी करेगा ? अब कौन मां-मां कहकर पुकारेगा ? मैं किसको बेटा कहूँगी ? अब कौन मेरे आंसू पोंछकर अपनी तोतली बातों से मुझे हंसाएगा ! अब मैं किसे देखकर अपनी आंखें ठंडी करूंगी और दुःख भूलूंगी ? भूखे रहने पर भी तुमने मुझसे कभी भी नहीं कहा कि भूख लगी है और न बिना मुझे साथ लिए खाया। परन्तु अब कोई मेरी बात पूछने वाला भी नहीं रहा। बेटा रोहित ! मैंने तुम्हारे पिता के पुत्र-रत्न को खो दिया है। जब वे तुम्हारे बारे में पूछेंगे तो मैं क्या उत्तर दूंगी ? मैं कैसे कह सकूंगी कि आपका जीवन-धन और सूर्यवंश का एकमात्र रत्न अब संसार में नहीं रहा है। वत्स रोहित ! क्या मैंने इसी दिन के लिए तुम्हें पाला था ? क्या दुष्ट सर्प के लिए तुम्हीं डसने योग्य थे। वह दुष्ट बदले में मुझे डस लेता। मुझे उसने किस सुख के लिए छोड़ रखा है ? मेरे प्राण ! तुम इस शरीर में किस आशा से ठहरे

हुए हो । क्या अभी कुछ और दुःख देखना शेष है, जिसके लिए तुम ठहरे हुए हो ! इस दुःख से बढ़कर और कौन-सा दुःख है जिसे अभी और सहना है । फिर तुम इस शरीर को क्यों नहीं छोड़ते ? इस भीषण दुःख से छुटकारा क्यों नहीं लेते ? चलो, तुम भी वहीं चलो, जहां रोहित गया है । मैंने सत्य के लिए सब दुःख सहे, लेकिन यह मेरे लिऐ अ-सह्य है । जहाँ मेरा रोहित गया है, बस वहीं मुझे भी ले चलो, मैं वहाँ अवश्य जाऊंगी । अब इस संसार में किस आशा से रहूं ? पुत्र की आशा से ही अब तक सब कष्ट सहते रहे, लेकिन आज तो यह आशा भी नहीं रही । मेरे लिए तो आज सारा संसार सूना हैं, अब मुझे इस संसार में रहने की क्या आवश्यकता है ?

इस प्रकार विलाप करते-करते तारा मूर्छित हो गई ।

तारा के इस करुण-क्रदन को सुनकर आस-पास के बहुत से लोग एकत्रित हो गए और इस हृदय-विदारक विलाप को सुनकर उन लोगों के भी आंसू बहने लगे । सब लोग तारा से सहानुभूति प्रगट करने लगे । वन के पशु-पक्षियों तक ने भी खाना-पीना, चहकना छोड़ दिया और तारा का अनुकरण करने लगे । यह सब कुछ तो हुआ, परन्तु रोहित जीवित न हो सका ।

लेकिन तारा की यह मूर्च्छा अधिक समय तक न रह सकी और पुनः होश में आने पर तारा उसी प्रकार विलाप लगीं कि इतने में एक सज्जन आए ।

सज्जनों की वाणी में न मालूम ऐसी कौन-सी शक्ति है कि संसार के कठिन-से-कठिन दुःख को भी बात-की-बात में कम कर देती है। दुःख में सुख, निराशा में आशा और विपत्ति में संपत्ति का संचार कर देना ही सज्जनों की विशेषता है।

तारा को सम्बोधित करते हुए वे सज्जन बोले—देवी तारा! पुत्र-शोक से विह्वल होकर यदि कोई दूसरी स्त्री रोती तो इसमें कोई आश्चर्य की बात न थी, परन्तु तुम्हारे समान सत्य-धारिणी भी विकल हो, यह आश्चर्य की बात है। यदि तुम भी अधीर हो जाओगी तो फिर दूसरा कोई कैसे धैय रख सकता है? यह शरीर, जिसको लिए तुम बैठी हो और विलाप कर रही हो, अनित्य है, क्षणभंगुर है। फिर तुम स्वामी-आज्ञा के उल्लंघन की पातकिन हो जाओगी। इसलिए धैर्य धारण करके पुत्र की अंत्येष्ठि-क्रिया करने का विचार करो। वीर क्षत्राणी अपने वीर पुत्र के लिए कभी कातर नहीं होती है। उसमें भी तुम सूर्यवंश की कुलवधू हो, दानवीर महाराज हरिश्चन्द्र की धर्मपत्नी हो और रोहित जैसे वीर और स्वतन्त्रता-प्रिय बालक की माता हो। तुम्हें इस प्रकार शोक करना शोभा नहीं देता है। इसके सिवाय शोक करने से कष्ट का निवारण नहीं हो सकता, मिट नहीं सकता, तो फिर शोक करने से ही क्या लाभ? अतः वीर क्षत्राणी की तरह धैर्य धारण करके अपने कर्तव्य का विचार करो।

सज्जन के इस उपदेश ने तारा के हृदय में बिजली का-सा असर किया। वे साश्चर्य विचार करने लगीं कि ये सज्जन मुझे कैसे पहचानते हैं। इन्होंने जितनी भी बातें कहीं हैं, उनसे स्पष्ट है कि ये मुझसे अच्छी तरद परिचित हैं। इनका उपदेश भी उचित है। वास्तव में मैं दूसरे के यहाँ दासी हूँ। बिना खरीददार की आज्ञा के मैं थोड़ा-सा भी समय नहीं बिता सकती हूँ, तो मरने के लिए कैसे स्वतंत्र कही जा सकती हूँ ? जिस सत्य की अब तक रक्षा की है, वह मेरे आत्मघात करने पर कदापि नहीं बच सकता है। अब तो मेरा यही कर्तव्य है कि रोहित की अपेक्षा सत्य को अधिक समझकर रोहित की चिन्ता न करूँ और वही कार्य करूँ, जिसके करने से सत्य की रक्षा हो।

सज्जन के समझाने से तारा का मन स्वस्थ हुआ। उन्होंने अपने हृदय के दुःख को दबाकर रोहित की अंत्येष्ठि-क्रिया करने का विचार किया। लेकिन उन्हें फिर ध्यान आया कि बिना किसी की सहायता के मैं अकेली स्त्री क्या कर सकूंगी ? कहाँ श्मशान है, अन्त्येष्ठि-क्रिया कैसे की जाता है, आदि बातों से भी मैं अनभिज्ञ हूँ, अतः यदि इन सज्जन की सहायता मिल जाए तो मेरा यह कार्य अच्छी तरह से हो जाएगा।

तारा अपने मन में ऐसा विचार कर ही रही थीं कि उस दुष्ट देव ने यहाँ भी तारा का पीछा न छोड़ा। उसकी के प्रभाव से तारा के आसपास खड़े हुए लोग अपनी-

अपनी ओर चल दिए। तारा के आवाज देने पर भी किसी ने ध्यान नहीं दिया और तारा अकेली ही रह गई।

तारा के विलाप करने और उन सज्जन के समझाने में ही संध्या हो गई थी। अमावस्या की काली रात्रि अपना भयंकर अंधकार फैलाती जा रही थी। सियार, उल्लू, भेड़िये आदि अपने-अपने भयावने शब्द सुना रहे थे। आकाश में घने काले बादल छा रहे थे। ऐसी विकराल भयानक और अंधेरी रात में वन के बीच तारा अपने मृतपुत्र को लिए हुए अकेली बैठी थीं। प्रार्थना करने पर भी समीप के लोगों के चले जाने से तारा को होने वाले दुःख की बात अनुमान से ही जानी जा सकती है।

तारा की इस विपदावस्था की ओर संसार के स्त्री-पुरुषों का ध्यान आकर्षित करते हुए बुद्धिमान कहते हैं—ए संसार के स्त्री-पुरुषों! तुम्हें धन, जन, रूप, यौवन आदि का अभिमान हो तो तुम तारा की ओर देखो। तारा अपने समय के धनवानों, रूपवानों, युवावस्था-सम्पन्नों और बुद्धिमानों में एक ही थीं। लेकिन जब उन पर भी विपत्ति पड़ीं तो तुम किन कारणों से इन नाशवान वस्तुओं पर गर्व करते हो! जो तारा कुछ दिन पहले एक विशाल राज्य की रानी थीं और रोहित राजकुमार था एवं लाखों मनुष्य जिनकी रक्षा के लिये तैयार रहते थे, आज वही राजकुमार वन के बीच मरा पड़ा है और वहीं रानी अकेली पास बैठीं दुखित हो रही हैं। इस समय उन्हें कोई आश्वासन देने वाला तक

नहीं है और न मृत देह का अग्नि-संस्कार करने के लिये उनके पास एक पैसा भी है। बल्कि ऐसा कोई सहायक मनुष्य तक नहीं है जो रोहित के शव को श्मशान तक पहुंचा दे या तारा को उसका मार्ग ही बतला दे। अतः यह ध्यान रखो कि आज तुम जिस धन पर गर्व करते हो, वह धन स्थायी नहीं, अस्थायी है। फिर क्यों उसके लिये अन्याय करते हो ? क्यों उससे मोह करते हो और क्यों संसार में उसे ही उत्कृष्ट वस्तु समझते हो ? धन का होना तभी अच्छा है जब उससे किसी प्रकार का सुकृत्य कर लिया जाए। अन्यथा सिवाय पश्चात्ताप के कुछ शेष नहीं रहता है। हरिश्चन्द्र का राज्य यदि किसी दूसरे राजा की चढ़ाई के कारण चला जाता तो उन्हें पश्चात्ताप होता कि मैंने अपने राज्य का कोई सदुपयोग नहीं किया, लेकिन उन्होंने तो उसे दान में दिया था, इससे उन्हें अत्यधिक संतोष था। सारांश यह कि अभिमान बुरा है, किसी वस्तु पर अभिमान न करके यदि उससे कोई सुकृत्य कर लिया जाए तो अच्छा है।

वन के बीच भयानक अंधेरी रात में तारा शव की अंत्येष्ठि-क्रिया की चिन्ता में बैठी थीं। उन्हें श्मशान का मार्ग भी मालूम नहीं था। खरीददार ब्राह्मण भी इतना निष्ठुर निकला कि न तो तारा को दुःख के समय सहायता देने वह स्वयं ही साथ आया और न किसी को साथ भेजा यद्यपि लोक-व्यवहार के अनुसार श्मशान-भूमि तक साथ देना उसका कर्तव्य था, परन्तु उसने इसकी उपेक्षा कर दी और

शव का अग्नि-संस्कार करने के लिए एक टका न दिया, जिसे देकर तारा उसका अग्नि-संस्कार कर पातीं ऐसे समय में तारा के हृदय में क्या-क्या भावनाएँ उत्पन्न हुई होंगीं, यह कौन कह सकता है?

लेकिन तारा क्षत्राणी थीं। विपत्तियों को सहन करने मे अभ्यस्त हो चुकी थीं और सज्जन के समझाने ने भी उन्हें धैर्य ही दिया था एवं अपने कर्त्तव्य को समझ चुकी थीं। इसलिए उन्होंने साहस करके रोहित के शव को कंधे पर उठा लिया और जिस ओर मृतकों के शवों को ले जाते देखा, उसी ओर चल दीं।

शव को लिये हुए, लड़खड़ातीं और ठोकरें खाती हुई तारा गलियों में होकर श्मशान के निकट आ पहुंची परन्तु अग्नि-संस्कार के लिए ईंधन की चिन्ता से तारा का हृदय अधीर हो उठा और वे पुत्र के शव को जमीन पर रखकर पुनः विलाप करने लगी कि—हाय बेटा! तुम एक विशाल राज्य के भावी स्वामी माने जाते थे, परन्तु आज तुम्हारा कोई सहायक भी नहीं है! और-तो-और, आज तुम्हारी अंत्येष्ठि के लिए ईंधन भी नहीं जुट रहा है! इस अभागिनी माता को न मालूम किन पाप कर्मों के फलस्वरूप अपने पुत्र की यह दशा देखनी पड़ रही है।

तारा इसी प्रकार की अनेक बातें कहती हुई विलाप कर रही थी। उनके हृदय-विदारक विलाप को सुनकर गीदड़ों ने भी अपना स्वर बन्द कर दिया। इस विपत्ति के

समय में तारा के हृदय की होने वाली दशा को प्रत्येक सहृदय मनुष्य अनुमान से जान सकता है। लेकिन इस कष्ट में भी तारा को अपने धर्म का विचार था। धर्म के विचार ने ही वन में उन्हें पुत्र-शोक से छुड़ाया था और कर्त्तव्य-मार्ग बतलाया था।

२५ . हमें सहना ही होगा

अमावस्या की घनघोर काली रात्रि थी और उसमें भी आकाश में चारों ओर मेघ की घटाएँ घिर रही थीं। एक भी तारा दिखाई नहीं देता था। निविड़ अन्धकार में सारा श्मशान सांय-साँय कर रहा था। बुझती चिताओं का प्रकाश अन्धकार को और भी भयानक बना रहा था। स्थान-स्थान पर नर-कपाल और अस्थियां बिखरी पड़ी थीं। चारों ओर सन्नाटा था, लेकिन बीच-बीच में गीदड़ों के बीभत्स शब्द एवं वृक्षों की झुरमुराहट कभी-कभी अवश्य सुनाई दे जाती थी। परन्तु ऐसे समय में भी लंगोटा कसे और नंगधड़ंग, डीलडौल वाला एक पुरुष हाथ में लट्ठ लिए इधर-उधर चक्कर लगा रहा था। चिताओं के धुएं से जिसका शरीर काला-सा पड़ गया था। जिसके सिर और दाढ़ी के बढ़े हुए रूखे बाल थे। यह और कोई नहीं, हमारे पूर्व परिचित महाराज हरिश्चन्द्र थे जो अकेले ही अपने मालिक की आज्ञा से श्मशान की रखवाली कर रहे थे।

हरिश्चन्द्र एकाकी ही इधर-उधर चक्कर लगाते हुए कह रहे थे—आह ! इस देह का अन्तिम परिणाम भी कैसा भीषण है। या तो यह जलकर राख हो जाती है या फिर

चील-कौवों और कुत्तों, गीदड़ों आदि का भोजन बनती है। कभी जो कांति अत्यन्त सुन्दर दीख पड़ती है और जिस पर यह मनुष्य अभिमान करता है वही कांति चिता में जलकर नष्ट हो जाती है। न मालूम कितने मनुष्य अपने जीवन की बड़ी-बड़ी आशाओं को अधूरी छोड़ यहाँ आकर चुपचाप सो जाते हैं। दीन-से-दीन और सम्पन्न-से-सम्पन्न माने जाने वालों के लिए यही एक अन्तिम स्थान है। ऐसा होने पर भी संसार के लोग इस शरीर की अनित्यता का विचार नहीं करते हैं। सैकड़ों आदमी अपने प्रिय-से-प्रिय स्वजन को यहाँ लाकर फूंक जाते है, वे रोते हैं, उनके हृदय में वैराग्य का संचार भी होता है, लेकिन उतनी ही देर जब चिता की आग बुझ नहीं जाती है। उसके बाद वही हास्य-विलास, वही कल्पनाओं का दौर-दौरा चलने लगता है। एक दिन में ही सब कुछ भूल जाते हैं। यह विचारने की भी आवश्यकता नहीं समझते कि जिस तरह मैं अपने प्रिय पुत्र, मित्र या भाई के शरीर को जलाकर भस्म कर आया हूँ, उसी तरह एक दिन मेरा भी अंतिम शयन चिता पर होगा और मुझे भी दूसरे लोग इसी तरह भस्म कर देंगे।

श्मशान-भूमि में आने पर मनुष्य के हृदय में जो भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, यदि उनको ही सदैव बनाए रखे तो मनुष्य इस नश्वर शरीर से अनेक प्रकार के सुकृत्य कर सकता है।

श्मशान ! तुम मनुष्य को कितनी उत्तम शिक्षा देते

हो। यदि मनुष्य [illegible] तो वह
[illegible] हो जाए। तुम्हारे [illegible] नहीं है। न [illegible]
[illegible] और उनके [illegible]
आदि को सहन ही करते रहते हो। तुम्हारे [illegible] में [illegible]
[illegible] को भी वही स्थान प्राप्त है जो एक राजा को।
राजा हो या रंक, ब्राह्मण हो या चांडाल, कोई हो पर
दिव्य शरीरधारी, तुम्हारे लिए सभी समान हैं। तुम्हारा
किसी से भी भेदभाव नहीं है। यदि मनुष्य भी तुम्हारे समान
समदर्शी बन जाए तो फिर उसे संसार में जन्म धारण करने
की आवश्यकता ही न रह जाए। परन्तु चेतना शक्ति सम्पन्न
होने पर भी मनुष्य इस ओर ध्यान नहीं देता है। इसी
कारण उसे पुनः-पुनः तुम्हारी शरण में आना पड़ता है।

हरिश्चन्द्र इस प्रकार के हृदयोद्गार व्यक्त करते हुए
इधर-उधर चक्कर लगा रहे थे कि सहसा किसी स्त्री का
करुण-क्रन्दन कानों में पड़ा। वे विचारने लगे कि इस अंधेरी
रात में यहाँ आकर रोने वाली यह कौन है? वे उस ओर
चल दिए जहाँ से आवाज आ रही थी। हरिश्चन्द्र ने स्त्री
के निकट जाकर पूछा—भद्रे! तुम कौन हो जो इस भया-
वनी रात्रि में अकेली बैठी रो रही हो?

मनुष्य का शब्द सुनते ही तारा चौंक पड़ी। अपने
सामने एक विशालकाय नंगधड़ंग पुरुष को हाथ में लट्ठ
लिये हुए खड़ा देख तारा कुछ सहमीं। वे भयभीत हो विचा-
रने लगीं कि इस रात्रि के समय यमदूत-सा यह कौन आकर

खड़ा हो गया है ? तारा ने साहस बटोर कर उससे पूछा—कौन हो तुम, जो इस भयावनी रात्रि में एक अनाथ, अकेली और दुखिया स्त्री के सामने आकर खड़े हो गए हो ? क्या तुम यमदूत हो ? क्या मेरे बालक को मेरी गोदी से छीनने के लिए आए हो ? परन्तु तुम्हारी क्या मजाल जो मेरे रहते, मेरे बालक को ले जाओ। मैं अपनी गोद कदापि सूनी न होने दूंगी। अपने प्रत्येक संभव उपाय से अपने बालक की रक्षा करूंगी !

स्त्री की ऐसी बातें सुन हरिश्चन्द्र आश्चर्य-चकित होकर विचारने लगे कि यह कौन है जो अभी तो रो रही थी और अब ऐसी साहसी बन गई है ? उन्होंने कहा—देवी ! तुम्हारे जैसा ही मैं भी आफत का मारा हुआ इन्सान हूँ। मैं यमदूत नही, बल्कि मनुष्य हूँ और इस श्मशान की रक्षा करता हूँ। क्या तुम इस मरे हुए बालक के लिए रो रही हो ? लेकिन इसके लिए तुम्हारा शोक करना वृथा है। संसार में जो आता है, उसे निश्चित ही इस मार्ग से जाना पड़ता है। यह एक अटल नियम है। यहाँ रहते हुए नित्य ऐसी घटनाओं को देखते-देखते मेरा हृदय वज्र हो गया कि अब वह कभी द्रवित नहीं होता है। मेरे देखते-देखते इस श्मशान में हजारों मनुष्य जल चुके हैं जिनमें बालक, युवा और वृद्ध सभी आयु के हैं। अतः लाओ, इसे भी जला दें। बादल उमड़ रहे हैं और यदि वर्षा हो गई तो लकड़ियों के भांति न जल पाने से तुम्हारा यह बालक भी अधजला

रह जाएगा ।

बोली सुनकर तारा विचार में पड़ गई कि यह है कौन ? इसका स्वर तो परिचित-सा जान पड़ता है । तारा इस प्रकार मन में विचार कर ही रही थीं बिजली चमक उठीं । उसके उजाले में उस मनुष्य का मुख देखकर तारा ने अनुमान लगा लिया कि यद्यपि यह पुरुष है तो दीन वेश में, लेकिन आकृति सज्जनता की सूचक है । निश्चय ही यह कोई सज्जन पुरुष है । तारा ऐसा सोचकर उस पुरुष से कहने लगीं—महाशय, आप बातचीत से तो बहुत सज्जन मालूम पड़ते हैं, लेकिन कहीं आप कोई देव तो नहीं हैं जो इस रात्रि के समय मेरी परीक्षा लेने या मेरी कुछ सहायता करने आए हों ? यदि ऐसा है तो कृपा कर मेरे पुत्र को जीवित कर दीजिए । मैं जीवन भर आपका आभार मानूंगी और धन्यवाद दूंगी ।

हरिश्चन्द्र—मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मैं मनुष्य हूँ और इस श्मशान-भूमि की रक्षा करता हूँ । मेरे देव होने का अनुमान लगाना तो बिल्कुल गलत है ।

तारा—यदि आप मनुष्य ही हैं तो कृपा करके मेरे पुत्र का सर्प-विष उतार दीजिए । मैंने सुन रखा है कि सर्प के काटे हुए मनुष्य के प्राण शीघ्र नहीं निकलते और कई लोग सर्प का विष मंत्र द्वारा उतार देते हैं । यदि इस दुखिया के पुत्र को जीवित कर दें तो बड़ी कृपा होगी ।

हरिश्चन्द्र—मैं विष उतारना भी नहीं जानता और

न अब तुम्हारा यह मृत पुत्र जीवित ही हो सकता है। इस प्रकार की अनावश्यक बातचीत में समय वीत रहा है और फिर कहीं वर्षा हो गई तो शव को जलाने में कठिनाई होगी। इसलिए लाओ, इसे जला दें। बातचीत से लाभ नहीं, किन्तु हानि ही है।

तारा और हरिश्चन्द्र दोनों एक-दूसरे के स्वर सुनकर मन में बिचारते थे कि यह स्वर तो सुना-जैसा है परन्तु संसार में एक ही स्बर के अनेक मनुष्य हो सकते हैं, इसलिए दोनों में से कोई भी एक-दूसरे से कुछ नहीं पूछता था। उस मनुष्य की अंतिम बात सुनकर तारा को अपने पुत्र की ओर से निराशा हो गई। उन्होंने कहा—यदि ऐसा दुर्भाग्य है, यदि मैं अपने पुत्र को किसी प्रकार भी पुनर्जीवित नहीं देख सकती और तुम्हारी इच्छा इसे जला देने की ही है तो लो, जला दो इसे।

हरिश्चन्द्र—यहाँ शव जलाने में खर्च होने वाले ईंधन के मूल्य-स्वरूप एक टका कर देना पड़ता है। सो तुम भी कर लाओ। तब तुम्हारा पुत्र जलाया जा सकेगा।

तारा—मेरे पास एक टका तो क्या, एक कौड़ी भी नहीं है, जो तुम्हें दे सकूं। मुझ पर दया कर, इसको बिना कर लिए ही जला दीजिए।

समय! तेरी गति बड़ी विचित्र है। तू संसार के प्राणियों की स्थिति गाड़ी के पहिए की तरह घुमाया करता है। जो रानी नित्य हजारों का दान करती थीं, वही आज

एक टके के लिए दया की भीख माँग रही है। यह तेरी ही महिमा है कि जो आज धनवान दिखाई देता है, वही कल दर-दर की भीख माँगता नजर आता है। ऐसा देखते हुए भी संसारी जन तेरी इज्जत नहीं करते और तेरी सदा उपेक्षा किया करते हैं।

तारा की बात को सुनकर हरिश्चन्द्र ने कहा—मैंने अनेक स्त्री-पुरुषों को शव लेकर आते देखा है परन्तु तुम्हीं एक ऐसी विचित्र स्त्री दिखलाई पड़ीं जो शव को जलाने के लिए एक टका भी न देकर दया की भीख मांग रही हो। क्या, तुम्हारा ऐसा कोई साथी नहीं जो तुम्हें एक टका दे देता ? क्या तुम विधवा हो ?

तारा—महाशय ! ऐसा न बोलिए।

हरिश्चन्द्र—तो क्या तुम्हारा पति इतना निष्ठुर है जो न तो तुम्हारे साथ ही आया और न कर का एक टका ही तुम्हें दिया ? उस पति को धिक्कार है जो ऐसे समय में भी अपनी पत्नी की सहायता नहीं करता। जो लोग अपनी पत्नी की सहायता नहीं कर सकते तो फिर वे किसी स्त्री के पति क्यों बन जाते हैं और क्यों पति नाम को लजाते हैं।

हरिश्चन्द्र की इस बात को सुनकर तारा को बहुत ही दुःख हुआ। वे मन-ही-मन कहने लगीं—हाय, जो बात आज तक भी न हुई थी, वह आज हो गई है। जिन कानों ने विश्वामित्र जैसे ऋषि से भी पति की निंदा नहीं सुनी थी, वे ही आज पति की निंदा सुन रहे हैं।

पुरुष मेरे पति की महिमा से अपरिचित हैं, इसीलिए ऐसे अशिष्ट शब्दों का प्रयोग कर रहा है। यदि यह जानता होता तो ऐसा बोलने का साहस कभी नहीं कर सकता था। फिर उस मनुष्य से बोलीं—कृपा कर आप मेरे पति की निंदा न कीजिए। शायद आपको मालूम नहीं कि मेंरे पति कैसे हैं और किस कारण मुझसे पृथक् हुए हैं। मेरे पति न तो निष्ठुर हैं और न निर्दयी। वे बड़े ही दयालु हैं। सत्य की रक्षा के लिए उन्होंने अपने सब सुखों का त्याग कर घोर कष्ट उठाना स्वीकार किया है। मैं उन्हें आंखों की पुतली के समान और यह पुत्र उन पुतलियों के तारे के समान प्रिय है। परन्तु धर्म-पालन के लिए हमें त्यागकर इस समय हमसे दूर हैं।

तारा की बात सुनकर हरिश्चन्द्र विचारने लगे कि ये बातें तो मुझ पर ही घटित हो रही हैं। स्वर भी तारा के स्वर-सा प्रतीत होता है। तो क्या यह तारा है? क्या आज उस पर ऐसी विपत्ति आ पड़ी है? नहीं, नहीं, ऐसा होना संभव नहीं है। उन्होंने पूछा—क्या स्त्री-पुरुष और राज्य का त्यागी तुम्हारा पति सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र है? क्या तुम उसकी पतिव्रता पत्नी तारा हो?

इस बात को सुनकर तारा को आश्चर्य हुआ कि यह कौन है जो मेरे और मेरे पति के बारे में सब कुछ जानता है। अभी वह ऐसा विचार कर ही रही थीं कि मेघाच्छन्न आकाश में पुनः बिजली चमकी। जिसके प्रकाश में दोन

ने एक-दूसरे को पहचान लिया ।

संसार का नियम है कि दुःख के समय किसी स्वजन के मिलने पर जहाँ हर्ष होता है, वहीं दुःख भी उमड़ पड़ता है, ऐसे समय में पति के मिल जाने से तारा को हर्ष हुआ वहाँ रोहित के शोक ने उन्हें और भी झकझोर डाला । इसी प्रकार राजा भी तारा के मिलने से हर्षित होने के साथ-साथ ही रोहित की मृत्यु से दुःखित हो गए । हाय ! आज रोहित चल बसा ! तारा की यह दशा !

राजा को पहचान कर तारा रोती-रोती उनके पास पहुँची और हिचकियों के बीच उनके मुख से नाथ, नाथ शब्द के अलावा और कुछ नहीं निकल सका । उधर राजा भी दुःख से अधीर हो उठे और मुँह से तारा का नाम निकल पड़ा । दुःखावेश में दोनों विलाप करने लगे ।

राजा कहने लगे—हा रोहित ! हा पुत्र ! हा ! तुम मुझे अकेला छोड़कर कहाँ चले गए ? बेटा ! मेरी वृद्धावस्था के सहारे ! आँखों के तारे ! हमें विपत्ति में छोड़कर कहाँ चल दिए ! तुम्हारी आशा में अब तक हम अनेक विपत्तियों को सहते रहे, परन्तु आज हम निराश हो गए हैं । पुत्र ! क्या तुम्हारी मृत्यु का यही समय था ? हा ! कुसुमवत् यह सुकुमार देह आज स्थिर पड़ी है । आज कौन मुझसे पिता कहेगा ? मुझे पिता कहने वाला कोई नहीं रहा । आज मैं निस्संतान हो गया । बेटा ! उठो, एक बार अपने पिता से तो कुछ बोलो ! वत्स ! इधर तो देखो

तुम्हारे बिना हम कितने व्याकुल हैं, उठो, कुछ शांति तो दो।

राजा और रानी पुत्र-शोक में इतने विह्वल हो गए कि विलाप करते-करते उन्हें मूर्छा आ गई। लेकिन यह स्थिति अधिक समय तक न रह सकी और तत्काल ही वह शीतल-मंद पवन के झोकों से दूर हो गई एवं पुत्र-शोक के दुःख ने पुनः घेर लिया और विलाप करने लगे।

विलाप करते-करते राजा कहने लगे—प्रिये तारा! अब हम लोग संसार में किस आशा से जीवित रहें? आज तक तो यह आशा थी कि रोहित बड़ा होकर हमारे दुःख दूर करेगा, हमें दासत्व से मुक्त करेगा। परन्तु आज तो यह आशा भी टूट चुकी है। इसी रोहित के सहारे मैं प्रसन्नतापूर्वक भंगी का सेवक बना हुआ था और तुम ब्राह्मण के यहाँ दासीपना करती थीं, परन्तु आज तो यह आशा का तार टूट गया है। अब हम लोगों को संसार में रहने से क्या लाभ है? क्यों दिन-रात पुत्र-शोक के दुःख में जलें? इसलिए यही उचित है कि हम लोग भी प्राण त्याग कर रोहित का अनुकरण करें। लेकिन उससे पहले यह उचित है कि हम लोग अपने जीवन की आलोचना कर डालें कि उसमें कहीं किसी प्रकार की कोई भूल तो नहीं हुई है।

सांसारिक मनुष्य जब दुःख से घबरा उठते हैं तो वे दुःख से मुक्त होने के लिये आत्मघात का उपाय विचारते हैं और समझते हैं कि ऐसा करने से हम दुःख-मुक्त हो जाएंगे। इसी के अनुसार राजा और रानी ने भी आत्मघात

करने का विचार किया और दोनों अपने-अपने जीवन की आलोचना करने लगे। आलोचना करते हुए राजा को ध्यान आया कि मैं अपनी छोटी-छोटी गलतियों की तो आलोचना कर रहा हूँ परन्तु उनमें जो सबसे महान भूल हो रही है, वह मुझे दिखाई ही नहीं देती है। मैं बिका हुआ दास हूँ, दूसरे का दास हूँ। मालिक ने मुझे श्मशान में रहकर शव को लेकर आने वालों से कर वसूल करने के बाद अन्त्येष्ठि क्रिया करने देने की आज्ञा दे रखी है। तो फिर मुझे आत्मघात करने का क्या अधिकार है ? रानी भी दूसरे के यहाँ दासी है और उसे भी क्या अधिकार है जो वह मेरी आज्ञा मानकर आत्मघात करे ? इसके सिवाय आत्मघात करना घोर पाप है। इसलिए हमें दोनों प्रकार से शरीर नाश करने का अधिकार नहीं है। ओह ! आत्मघात और विश्वासघात ये दोनों ही महापाप हैं।

मन में यह विचार आते ही राजा खड़े हो गए और तारा से कहने लगे—अभागिनी तारा ! हम लोग तो मरने के लिए भी स्वतन्त्र नहीं हैं। हम दोनों दूसरे के खरीदे हुए दास हैं। इस प्रकार दुःख से व्यथित होकर आत्मघात करना और खरीददारों को धोखा देना, अपना धर्म नहीं है। अतएव मरने का विचार त्याग कर धैर्यपूर्वक इस कष्ट को सहन करते हुए अपने-अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ रहें।

पति की बात सुनकर तारा भी बोलीं - नाथ ! आप जैसे विचारों के कारण ही मैं रोहित की मृत्यु के समय भी

प्राण-त्याग न कर सकी थी, अन्यथा अब तक तो मैं कभी की रोहित का अनुसरण कर चुकी होती। परन्तु दुःखावेश में पुनः मुझे यह ध्यान न रहा और आपके साथ आत्मघात करने के लिए तैयार हो गई। लेकिन अच्छा हुआ कि आप के विचार में यह बात आ गई, जिससे हम लोग आत्मघात के पाप से भी बच गए और खरीददार के साथ विश्वासघात करने के विचार से भी।

२६. अन्तिम कसौटी

राजा और रानी ने मरने का विचार तो त्याग दिया और अब पुनः उनके सामने रोहित के जलाने की समस्या आ खड़ी हुई। राजा कहने लगे—तारा, जो होना था, सो हो चुका, अब कर का एक टका दो, जिससे रोहित का अग्नि संस्कार कर सकें। मेरे मालिक की आज्ञा है कि बिना कर लिए शव को जलाने के लिए लकड़ी न दी जाए।

तारा—नाथ! आप कर किससे मांग रहे हैं? क्या दुःख के कारण आप अपने आपको भी भूल गए? यदि नहीं तो फिर मुझ से कर कैसे मांग रहे हैं? मैं आपकी अर्द्धांगिनी हूँ और यह शव आपके प्राणों से भी अधिक प्रिय पुत्र रोहित का है। न मालूम मैं किन-किन कष्टों को सहन करते हुए इस शव को यहाँ तक ला पाई हूँ और अब इसके पिता होने के कारण आपका कर्तव्य है कि आप इसका अंतिम-संस्कार करें। लेकिन उसकी जगह आप मुझसे ही कर मांग रहे हैं। नाथ! क्या आपसे कोई बात छिपी है जो आप मुझ से कर का एक टका मांगें, यह कहाँ का न्याय

ऐसी विकट परिस्थिति में पड़कर साधारण धैर्य छूट जाता है, परन्तु जो महापुरुष हैं वे कठिन

समय आने पर भी अपने धैर्य को नहीं छोड़ते हैं। इसीलिए कहा है—

कर्दथितस्यापि हि धैर्यवृत्ते र्न शक्यते धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम् ।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वन्हे-र्नाधःशिखा याति कदापि देव ।

धैर्यवान पुरुष घोर दुःख पड़ने पर भी अपने धैर्य को नहीं छोड़ते। जैसे कि अग्नि को उलटी कर देने पर भी उसकी शिखा ऊपर को ही रहती है, नीचे की ओर नहीं जाती।

तारा की बात सुनकर भी हरिश्चन्द्र धैर्य से विचलित नहीं हुए और कहने लगे—तारा, तुम्हारा कथन अनुचित नहीं है, परन्तु यह बताओ कि तुम ब्राह्मण के यहाँ दासीपना क्यों कर रही हो ?

तारा—सत्य और धर्म की रक्षा के लिए।

हरिश्चन्द्र—तो फिर जिस सत्य की रक्षा के लिए राज्य छोड़ा, मजदूरी की, तुम ब्राह्मण के यहाँ दासी और मैं भंगी के यहाँ दास बना एवं जिस सत्य के लिए इतने कष्ट सहे, क्या उसको केवल एक टके के लिए चला जाने दें ? जब तुमने एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राओं के समय धर्म छोड़ने को नहीं कहा, तो क्या उसी धर्म को केवल एक टके के वास्ते छोड़ देने के लिए कहती हो ? मुझे मेरे मालिक की आज्ञा है कि विना कर लिए श्मशान की लकड़ी से किसी शव का अग्नि-संस्कार न होने दिया जाए, तो फिर चाहे मेरा पुत्र हो या दूसरा, मैं विना कर लिए कदापि लकड़ी नहीं लेने दूंगा। ऐसी दशा में मैं तुम्हारे या पुत्र के मोह में पड़कर विना

कर लिए कैसे अग्नि-संस्कार कर दूं ? ऐसा करने से क्या धर्म नहीं जाएगा ? तुमने ही तो शिक्षा दी थी कि सत्य की प्राणपण से रक्षा करनी चाहिए और आज ऐसा कहती हो। तुम्हारी शिक्षा के कारण संसार का कोई भी पदार्थ मुझे सत्य से विचलित करने में समर्थ नहीं हो सका। ये सांसारिक पदार्थ अनित्य और सत्य नित्य है। अतः कोई भी वुद्धिमान नित्य को छोड़कर अनित्य को अपनाने की मूर्खता नहीं कर सकता है। यदि इस समय मैं केवल एक टके के लिए कर्तव्य-विमुख हो जाऊँ तो सत्य की रक्षा के लिए अब तक जो कष्ट सहे हैं, क्या वे निष्फल नहीं हो जाएँगे ? कष्ट सहकर भी जिस सत्य की रक्षा की है और वड़ी-से-बड़ी विपत्ति में भी जब हम लोग नहीं घबराए तो अब इस एक टके की बात से घबराकर सत्य को त्याग देना कैसे उचित होगा ? तारा ! तुम्हारी रक्षा करना और पुत्र का अंतिम-संस्कार करना मेरा कर्तव्य है, तथापि मैं विवश हूँ। कर वसूल किए बिना शव जलाने देने का मुझे कोई भी अधिकार नहीं है, इसलिए बिना कर दिए जलाने की आशा छोड़ो और उसके चुकाने का कोई-न-कोई उपाय करो।

कहाँ तो आज के वे लोग हैं जो थोड़े से लोभ में पड़कर दिन दहाड़े लोगों की आंखों में धूल झोंकते हैं
बात-बात में झूठी सौगन्धें खा-खाकर सत्य
हैं और कहाँ वे सत्यवादी महाराज ह
स्त्री पर भी दया करके सत्य छोड़कर

पुत्र को जलाने की स्वीकृति नहीं देते। कहाँ तो आज के वे लोग सच को झूठ और झूठ को सच बता देते हैं। मालिक तो क्या, अपने ही स्त्री-पुत्र और धर्म को भी धोखा देने में नहीं हिचकिचाते ओर कहाँ हरिचन्द्र हैं जो इस विपदावस्था में भी मालिक के उचित कर को नहीं छोड़ रहे हैं। इस अंतर का कारण केवल सत्य पर विश्वास न होना और होना है। आज के ऐसे लोग जिन्हें सत्य पर विश्वास नहीं है, विचारते हैं कि यहाँ कौन देख रहा है ? या हमारे झूठ को कौन समझ सकता है ? परन्तु हरिश्चन्द्र को विश्वास था कि सत्य सर्वत्र व्यापक है; वह किसी समय भी छिपाने से नहीं छिप सकता और इसे छिपाने की चेष्टा करना भी पाप है।

आज की अधिकांश स्त्रियों के विचारानुसार हरिश्चन्द्र के उपर्युक्त कथन पर तारा को दुःख होना स्वाभाविक था। परन्तु तारा के विचार उनके विचारों से सर्वथा विपरीत थे। उन्हें सत्य उसी प्रकार प्रिय था, जैसा कि हरिश्चन्द्र को था। वे महान-से-महान दुःख में भी अपने स्वार्थ के लिए पति से सत्य छोड़ने का आग्रह करना न जानती थीं।

पति की बात सुनकर तारा कहने लगीं—आपका कथन यथार्थ है। किन्तु दुःख की अधिकता से मेरी बुद्धि अस्थिर थी, इसलिए मैंने बिना कर लिए पुत्र का अग्नि-संस्कार करने की प्रार्थना की थी। मालिक की आज्ञा-पालन करना आपका कर्त्तव्य पर स्थिर न रहना ही धर्म का त्याग है।

अतएव आप मालिक की आज्ञा का उल्लंघन न कीजिए। परन्तु मेरे पास तो कर देने के लिए टका नहीं है, तो क्या पुत्र का शव बिना जलाए यों ही पड़ा रहेगा ?

हरिश्चन्द्र—प्रिये ! तुम्हीं विचारो कि विना टका दिए अग्नि-संस्कार कैसे हो सकता है ? सौभाग्य से मालिक यहाँ आ जाएँ और बिना कर लिए अग्नि-संस्कार करने की स्वीकृति दे दें, तो दूसरी बात है, अन्यथा अग्नि-सस्कार होना सर्वथा असंभव है ।

राजा का उत्तर सुनकर तारा को दुःख हुआ और वे पुनः रुदन करती हुई कहने लगीं—हाय ! आज ऐसा दुर्भाग्य है कि एक टके के बिना शव यों ही पड़ा रहेगा । जिसके जन्मोत्सव में हजारों-लाखों रुपये व्यय किये गए थे, आज उसी की मृत्यु होने पर ईंधन के लिए एक टका भी नहीं है कि जिसे देकर अग्नि-संस्कार कर सकूं ।

सहसा रानी को ध्यान आया कि इस प्रकार विलाप करने से तो अग्नि-संस्कार नहीं हो सकता है और न कहीं से किसी प्रकार की सहायता मिलने की ही आशा है। अतः मेरे पास यह जो पहनने की साड़ी है, क्या उसमें से आधी साड़ी एक टके के मूल्य की न होगी ? क्यों न इस आधी साड़ी एक टके के बदले देकर अपने पुत्र संस्कार कर दूं । यदि ब्राह्मण मुझे कोई दूसरा तब तो अच्छा ही है, अन्यथा आधी साड़ी से तन ढांके रहूँगी । लेकिन पुत्र के शव को

संस्कार किए पड़े रहने देना, मातृ-कर्त्तव्य के विरुद्ध है।

ऐसा विचार कर रानी ने आधी साड़ी फाड़ी और राजा से कहने लगीं—आप एक टका कर के बदले यह वस्त्र ले लीजियेगा, जो एक टके से अधिक मूल्य का है। अब तो आपको अग्नि-संस्कार करने में किसी प्रकार की भी आपत्ति नहीं होगी ?

साधारण मनुष्य का ऐसी अवस्था में सत्य से विचलित हो जाना आश्चर्य की बात नहीं है, लेकिन हरिश्चन्द्र तो असाधारण पुरुष थे जो इस दशा में भी सत्य से विचलित न हुए।

रानी की बात सुनकर राजा बोले—तुम्हारे समान स्त्री वास्तव में धन्य है जो सत्य की रक्षा के लिए अपने पहने हुए वस्त्र में से भी आधा फाड़कर दे देने में संकोच नहीं करती। अब मुझे अग्नि-संस्कार करने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है।

जैसे ही 'लीजिए नाथ, यदि लज्जा ढांकने का वस्त्र सत्य की रक्षा के लिए न दूंगी तो फिर कब दूंगी' कहकर रानी वस्त्र देने लगीं और राजा ने लेने के लिए हाथ बढाया कि आकाश में दिव्य प्रकाश प्रकट होने के साथ ही देव-दुन्दुभि बजने लगी, पुष्प-वर्षा होने लगी और देवगण दोनों के जयघोष के साथ-ही-साथ कहने लगे—आपके सत्य-पालन के व्रत को, आपके माता-पिता को, आपके मनुष्य जन्म को, आपके धैर्य और साहस को तथा धर्मभीरुता को धन्य है !

घोर अंधेरी रात में भी अन्य किसी की अनुपस्थिति में और अपने पुत्र के अग्नि-संस्कार के कार्य में भी सत्य पर दृढ़ बना रहे, ऐसा मनुष्य आपके अतिरिक्त और कौन हो सकता है ? कौन ऐसी स्त्री होगी जो ऐसे विकट समय में भी अपने पति से धर्म छोड़ने का आग्रह न करे !

आकाश से प्रकाश, पुष्पवृष्टि और शब्दों को सुनकर राजा-रानी आश्चर्य-चकित रह गए । उसी समय एक दिव्य देहधारी देव उनके निकट आकर खड़ा हो गया । यह वही देव था जिसने हरिश्चन्द्र को सत्य-भ्रष्ट करने की प्रतिज्ञा की थी । इस देव ने ही इन्हें इतने कष्ट में डाला था और अपनी माया से रोहित को निर्जीव-सा कर दिया था । लेकिन जब इस अंतिम कसौटी में भी राजा को सत्य पर दृढ़ देखा तो उसका अभिमान गलित हो गया । वह दीन हो अपने किए पर पश्चात्ताप करने लगा । आते ही सबसे पहले उसने रोहित पर से अपनी माया हटाई, जिससे वह उठकर उसी प्रकार खड़ा हो गया जैसे अभी सोकर उठा हो ।

अपने निकट एक दिव्य देहधारी देव को रोहित को पूर्ववत् जीवित देखकर राजा और आश्चर्य और अधिक बढ़ गया । वे समझ न सके क्या हो रहा है । इतने में ही वह देव राजा और रानी से कहने लगा—आप मुझ मेरा अपराध क्षमा कीजिए ।

देव को इस प्रकार क्षमा मांगते

का और भी ठिकाना न रहा। राजा ने देव से कहा—मैं नहीं जानता कि आप कौन हैं और ऐसा कौन-सा मेरा अपराध किया है कि जिसकी आप क्षमा मांग रहे हैं, कदाचित आपने अपराध किया हो, तो भी मुझे आप पर किसी प्रकार का क्रोध नहीं हो सकता है।

राजा की बात सुनकर देव ने अपना परिचय देते हुए कहा—महाराज! इन्द्र की सभा में आपके सत्य की प्रशंसा सुन मुझे अपने स्वभावानुसार क्रोध हो आया। मैंने विचार किया कि इन्द्र हम देवों के सामने एक मनुष्य की प्रशंसा कैसे करते हैं और वह प्रशंसा मुझे असह्य हो उठी एवं आप को सत्यभ्रष्ट करने की प्रतिज्ञा कर ली। उसकी पूर्ति के लिए ही मैंने देवांगनाओं को भेजकर विश्वामित्र का उप-वन ध्वंस कराया था और उसके द्वारा विश्वामित्र को कुपित कराकर आप लोगों को कष्ट में डाला था। रोहित को भी मैंने सर्प बनकर डसा था एवं माया से निर्जीव-सा कर दिया था। ये सब कार्य मैंने तो आपको सत्य से विचलित करने के लिए ही किए थे परन्तु आप इस घोर दुःख के समय भी विचलित नहीं हुए। मैं आपकी सत्यवीरता को समझ चुका हूँ। मैंने अज्ञानवश आपको जो कष्ट दिए हैं, उनके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ। यदि आप मेरे अपराधों को क्षमा नहीं करेंगे तो मेरी आत्मा को कभी शांति नहीं मिलेगी।

अत्याचार की भी एक सीमा होती है। लेकिन के बाद तो वह स्वयं अत्याचारी को ही दुःख देने लगता

है। जिस अत्याचार का प्रतिकार सहनशीलता द्वारा किया जाता है, वह अत्याचार अत्याचारी के लिए ही दुःख देने वाला बन जाता है। देव ने हरिश्चन्द्र को अनेक कष्ट दिये, उन पर बड़े-से-बड़े अत्याचार किये, परन्तु हरिश्चन्द्र उन अत्याचारों को धैर्यपूर्वक सहन करते रहे। यही कारण है कि वह अत्याचारी देव स्वयं अपने अत्याचारों का स्मरण करके आप ही जला जा रहा था और हरिश्चन्द्र से बार-बार क्षमा प्रार्थना कर रहा था।

देव की बात सुनकर राजा-रानी को बहुत प्रसन्नता हुई। राजा ने कहा—मेरे क्षमा करने से यदि आपको शांति मिलती है, तो मैं आपको क्षमा करता हूँ। लेकिन आप जिन कार्यों के लिये मुझसे क्षमा चाहते हैं, उनके करने से आप मेरे अपकारी नहीं, किन्तु उपकारी ही हैं। यदि आप परीक्षा न करते तो मुझे ज्ञात नहीं होता कि मैं कहाँ तक सत्य का पालन कर सकता हूँ। आपने मेरी परीक्षा के लिये जो कष्ट उठाया, उसके लिये आभारी हूँ।

देव—आपका यह कथन भी आपकी महानता का परिचायक है, लेकिन वास्तव में उपकारी मैं नहीं आप हैं। यदि आप इन कष्टों को सहन न करते तो मुझे जो अभिमान था वह भी नष्ट नहीं होता और सत्य पर भी मुझे अश्रद्धा हो जाती। मैंने अभिमानवश इन्द्र को भी कुछ नहीं समझा लेकिन आपने कष्ट सहन करके मेरे उस अभिमान को नष्ट कर दिया है। आपने जो कष्ट सहे हैं, वे सब मेरे उपकार

करने के लिये ही सहे हैं। मैं आया तो था आपको कष्ट देने, लेकिन मैं उसी प्रकार शुद्ध हो गया हूँ जैसे पारस के स्पर्श से लोहा कुन्दन बन जाता है। आपके क्षमा करने से मेरा अज्ञान भी मिट गया और मेरी आत्मा भी पवित्र हो गई।

२७ : विश्वामित्र का आत्म-निरीक्षण

महाराज हरिश्चन्द्र के काशी चले जाने के बाद अयोध्या की दुःखी प्रजा विवश होकर नगर में लौट आई। इस समय सबके मुख पर उदासी छाई हुई थी और आंखों से आंसू बह रहे थे। जो नगर कल तक रमणीय दिखलाई देता था, आज वह भयंकर जान पड़ता था। वहां के प्रसन्न हंस-मुख निवासी आज चिन्तित और दुःखित दिखलाई पड़ रहे थे। जो बाजार व्यापारियों से भरे रहते थे, वहां आज प्रजा के झुंड-के-झुंड एकत्रित हो दुःख की चर्चा करते थे। महाराज हरिश्चन्द्र के चले जाने से प्रजा दिन-रात चिन्ता में निमग्न रहने लगी। उसे न तो कोई दूसरा कार्य सूझता था और न करने में ही मन लगता था।

प्रजा में मुखिया माने जाने वाले महानुभाव एक तो पहले ही महाराज हरिश्चन्द्र के चले जाने से दुखी थे और उस पर भी जब प्रजा की यह हालत देखी तो अधिक चिन्तित हो उठे। वे विचारने लगे कि यदि प्रजा की यही दशा रही तो जीवन भाररूप हो जाएगा। अतः महाराज हरिश्चन्द्र के चलते समय दिये गए उपदेश के अनुसार हमारा कर्तव्य है कि प्रजा की इस चिन्ता को दूर कर के इसे

अपने कर्तव्य पर पुनः आरूढ़ करें।

ऐसा विचार कर वे मुखिया प्रजा को समझाने लगे। उन्होंने महाराज हरिश्चन्द्र के उपदेश की ओर प्रजा का ध्यान आकर्षित किया और कहा कि यदि इस प्रकार चिन्ता करके आप लोग प्राण भी छोड़ देंगे, तब भी कोई लाभ होने वाला नहीं हैं। अतः यही उचित है कि महाराज हरिश्चन्द्र के आदेशानुसार रहकर जीवन व्यतीत करें।

मुखियों के समझाने-बुझाने पर प्रजा को कुछ ढाढ़स बंधा। किन्तु विश्वामित्र हरिश्चन्द्र के प्रति प्रजा के सद्भावों को मिटाने और अपना प्रभाव जताने के लिए निरंकुश शासन करने लगे। इससे सभासदगण रुष्ट हो गए और शासन का प्रतिकार करने के लिए उन्होंने एक प्रजा परिषद स्थापित की जो विश्वामित्र द्वारा प्रचलित कठोर नियमों का विरोध करती एवं सत्याग्रह द्वारा उन नियमों को कार्य-रूप में परिणत नहीं होने देती थी। प्रजा के इस कार्य से विश्वामित्र की झुंझलाहट दिनोंदिन बढ़ने लगी एव अपना आतंक जमाने के लिए विशेष अत्याचार करने लगे। प्रजा उनके अत्याचारों को धैर्यपूर्वक सहन करती रही। उसने न तो अपने सत्याग्रह को त्यागा और न विश्वामित्र के ऐसे कार्यों में सहयोग ही दिया। विश्वामित्र अपना प्रभाव जमाने के प्रयत्नों में निरंतर असफल होते रहे।

यद्यपि विश्वामित्र अंतरंग में तो प्रजा की सराहना रते थे, परन्तु अपनी हठ पूरी करने के लिए प्रकट में प्रजा

के प्रति अन्याय करते रहते थे। कभी-कभी वे बहुत ही पश्चात्ताप करने लगते कि मैंने यह क्या किया? कहाँ से अपने आपको इस जंजाल मे फंसा लिया और जैसे जैसे इससे निकलने की चेष्टा करता हूँ, वैसे-ही-वैसे और भी फंसता जा रहा हूँ। मुझे क्रोध करने का फल पूर्णरूप से मिल रहा है। यदि अपने ऊपर क्रोध का आधिपत्य न होने देता तो आज मेरी यह दशा क्यों होती और प्रतिष्ठा को हानि पहुचती?

चाहे जैसा अन्यायी मनुष्य हो, परन्तु उस पर सत्य का प्रभाव पड़े विना नहीं रह सकता है। हरिश्चन्द्र के सत्य से प्रभावित होकर विश्वामित्र स्वयं अपने लिए पश्चात्ताप करते थे कि मैंने हरिश्चन्द्र के साथ बहुत ही अन्याय किया है। उसको सत्य से विचलित करने के लिए तो मैंने अपनी तपस्या का संपूर्ण बल लगा दिया, फिर भी मैं उसे सत्य से भ्रष्ट नहीं कर पाया, वह अपने सत्य से विचलित नहीं हुआ। अवश्य ही वह महान पुरुष है। ऐसे महान पुरुष के प्रति मेरे द्वारा किया गया व्यवहार नितांत निंद्य है। प्रजा पर अपने द्वारा किए जा रहे अन्याय का भी उन्हें समय २ पर पश्चात्ताप हो ही जाता था।

जब विश्वामित्र किसी भी प्रकार से प्रजा के हृदय पर अपना आधिपत्य न जमा सके, तो निराश हो गए और विवश होकर उन्होंने प्रजा को राजसभा में आमन्त्रित किया। प्रजा के आ जाने पर वे कहने लगे—मैंने आपके राजा को तथा आप

लोगों को बहुत ही कष्ट दिया है। आपके राजा की, राज-परिवार की और आप लोगों की सहनशीलता प्रशंसनीय है तथा मैं अपने कार्यों के लिए हृदय से पश्चात्ताप करता हूं एवं आप लोगों से क्षमा चाहता हूँ। अब मैं राज्य-कार्य छोड़कर आप लोगों के प्रिय राजा की खोज में जा रहा हूँ। जिन्हें आप पुनः राजा बनाकर प्रसन्नता से रहें।

विश्वामित्र की इन बातों को सुनकर पहले तो प्रजा को विश्वास नहीं हुआ। परन्तु बार-बार विश्वास दिलाने पर प्रजा विश्वामित्र के विचारों की प्रशंसा कर के उन्हें धन्यवाद देने लगी।

महाराज हरिश्चन्द्र को पुनः राज्यासन पर आरूढ़ करने की अपनी अभिलाषा को कार्यरूप में परिणत करने के विचार से विश्वामित्र अयोध्या से काशी की ओर चल पड़े। मार्ग में उनके हृदय में अनेक संकल्प-विकल्प होते जा रहे थे कि मेरी प्रार्थना पर महाराज हरिश्चन्द्र अवध लौट आएंगे या नहीं ? किन्तु जैसे भी होगा, वैसे उनको लाऊंगा अवश्य। यह निश्चय कर के विश्वामित्र अपने मार्ग पर बढ़ते ही चले गए।

२८ : श्मशान में समारोह

हरिश्चन्द्र द्वारा अपने कष्टदाता देव को क्षमा करते ही आकाश में पुनः हरिश्चन्द्र-तारा के जयघोष के साथ देव-दुन्दुभि बजने लगी। देखते-देखते श्मशान में इन्द्र सहित देव-देवियों का समूह एकत्रित हो गया। उन्होंने उसी समय हरिश्चन्द्र, तारा तथा रोहित को स्नान कराकर वस्त्राभूषणों से अलंकृत किया और मध्य में रखे हुए सिंहासन पर ससम्मान आसीन कर स्तुति करने लगे।

कुछ देर पहले जो हरिश्चन्द्र और तारा अपने प्रिय पुत्र के शोक से दुःखित थे और दासत्व से मुक्त होने की जिन्हें आशा तक न थी। यदि ऐसे समय में वे अपने सत्य पर स्थिर न रहते और विना कर लिये-दिए पुत्र का अग्नि-संसकार करने को तैयार हो जाते तो यह प्रकाश, आनन्द और सम्मान प्राप्त न होता। सारांश यह है कि जो कुछ हो रहा है वह सब सत्य-पालन में होने वाले कष्टों को धैर्य-पूर्वक सहने और भयभीत होकर सत्य न छोड़ने का ही परिणाम है।

इसलिए सत्य-पालन में चाहे कष्ट सहने पड़े, परन्तु उनको धैर्य, पूर्वक सह लेने और सत्य से विचलित न होने जो आनन्द प्राप्त होता है, वह झूठ द्वारा प्राप्त अस्थाई आनंद

से असंख्य गुणा बढ़कर है; उन दोनों की तुलना नहीं की जा सकती है। सत्य-पालन करने वाले के कष्ट भी सदा नहीं रहते। वे क्षण भर क बाद ही सुखरूप में परिणत हो जाया करते हैं। इसके लिए भर्तृहरि ने कहा है—

पतितोऽपि कराघातैरुत्पतत्येव कन्दुकः।
प्रायेण साधुवृत्तानामस्थायिन्यो विपत्तयः॥

जिस तरह हाथ से गिरने पर गेंद ऊपर ही उछलती है, उसी प्रकार न्यायवृत्ति पर चलने वाले मनुष्य भी आपत्ति में गिरकर ऊपर की ओर ही उठते हैं।

यह परिवर्तन देखकर हरिश्चन्द्र ने तारा से कहा—प्रिये तारा! आज जो कुछ तुम देख रही हो, वह सब तुम्हारी ही कृपा का फल है! यदि तुम मुझे उस विषय-कूप से न निकालती और साथ न देती तथा स्वय बिककर मेरे लिये आदर्श उपस्थित न करती तो निश्चय ही मैं सत्य से पतित हो गया होता एवं सत्यपालन करने से प्राप्त होने वाले आनन्द को हम कदापि नहीं पा सकते थे।

उत्तर में तारा ने कहा—नाथ, इसमें मेरी कुछ भी विशेषता नहीं है। जो कुछ भी मैंने किया, वह अपने कर्तव्य से अधिक कुछ नहीं किया है। यदि आप राज्य का दान कर दक्षिणा देने का वचन न देते तो मुझे यह आनन्द कहां से प्राप्त हो सकता था?

श्मशान में अभूतपूर्व प्रकाश देख और कोलाहल सुनकर नगरनिवासी आश्चर्य-चकित हो कहने लगे कि आज यह क्या

बात है ? बहुतेरे इसके देखने के लिए दौड़े। महाराज हरिश्चन्द्र का मालिक भंगी भी दौड़ा आया कि आज श्मशान में यह क्या गड़बड़ है। भंगी पर दृष्टि पड़ते ही हरिश्चन्द्र सिंहासन से उतर पड़े और उसका सत्कार करते हुए उन्होंने कहा कि मालिक यह सब आपका ही प्रताप है। यदि आप मुझे खरीदकर सत्य की रक्षा न करते तो यह सब कैसे हो सकता था ?

भंगी हाथ जोड़कर कहने लगा—आप मुझे क्षमा कीजिए। आपके साथ मैंने तथा मेरी स्त्री ने बहुत अभद्र व्यवहार किया है। मैं उस पाप से दबा जा रहा हूँ। अतः आप मुझे क्षमा करके मेरा और मेरी स्त्री का उद्धार कीजिए।

राजा—नहीं, आप ऐसा न कहिए। आपने सदैव सहृदयता का व्यवहार किया है। यदि मालकिन की कृपा से मुझे श्मशान-रक्षा का कार्य न मिला होता तो यह सब देखने को कहाँ से मिलता ?

सज्जन अपकारी के अपकार को तो भूल जाते हैं, परन्तु उपकारी के उपकार को नहीं। इसलिए देवताओं से सेवित होने पर भी हरिश्चन्द्र ने भंगी को अपना उपकारी मानकर उसके सन्मुख नम्रता ही प्रगट की।

महाराज हरिश्चन्द्र ने सब देवों से भंगी का परिचय कराते हुए कहा कि ये मेरे मालिक हैं, जिनकी कृपा से मैं सत्य-पालन में समर्थ हो सका हूँ। जब मेरा मूल्य न लगने के कारण मैं सत्य-भ्रष्ट हो रहा था तो आपने

खरीदकर मेरे सत्य की रक्षा की थी । मैं आपकी जितनी भी प्रशंसा करूं, वह थोड़ी है । आपके उपकार से मैं कभी भी उऋण नहीं हो सकता हूँ ।

हरिश्चन्द्र की बात सुनकर सब देवों ने भंगी की बहुत प्रशंसा की और सत्कार किया ।

बात-की-बात में सारे नगर में यह खबर फैल गई कि अयोध्या के राजा हरिश्चन्द्र और रानी तारा आज श्मशान में प्रगट हुए हैं । काशी नरेश भी श्मशान की ओर चले । वे मन-ही-मन पश्चात्ताप करते जाते थे कि महाराज हरिश्चन्द्र इतने दिन यहां रहे और मुझे इसका पता भी न लगा । मेरे लिए यह कितनी लज्जा की बात है ।

महारानी तारा का खरीददार ब्राह्मण भी चिन्ता में था कि दासी अब तक क्यों नहीं लौटी ? कहीं वह मर या भाग तो नहीं गई ? इतने में उसने भी श्मशान में हो रही घटना की खबर सुनी और 'एक पंथ दो काज' कहावत का विचार कर वह भी श्मशान में आया कि चलो, वहाँ हरिश्चन्द्र-तारा को भी देख लूंगा तथा दासी की भी खोज करता आऊँगा । यहाँ आकर जब उसने देखा कि दासी तो सिंहासन पर रानी बनी बैठी है तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा । वह मन-ही-मन पछताने लगा कि अवध की महारानी ही मेरे यहाँ दासी बनकर रहती थीं । मैंने उनसे बहुत ही निकृष्ट सेवाएँ कराईं और कठोर व्यवहार किया है । अब मैं कैसे उनको अपना मुंह दिखला

सकूंगा ?

उधर रानी भी चिन्तित थी कि मालिक ने मुझे कुछ ही समय का अवकाश दिया था और यहाँ आकर इस झंझट में फंस जाने से काफी समय हो गया है। न मालूम मालिक क्या कहेंगे ? इतने में रानी की दृष्टि ब्राह्मण पर पड़ीं और हाथ जोड़कर उससे कहने लगीं—महाराज मेरा अपराध क्षमा कीजिए। मैं झंझट में पड़ गई, इसी कारण अब तक नहीं आ सकी।

उत्तर में ब्राह्मण तारा के पैरों में झुककर कहने लगा—महारानी जी, मैंने जो अज्ञानवश आपसे दासी का काम कराया और निकृष्ट सेवाएं लीं तथा कठोर व्यवहार किया, उनके लिये आप मुझे क्षमा कीजिये। मैं बड़ा लज्जित हूँ।

ब्राह्मण को उठाते हुए तारा कहने लगीं—आपने मुझ पर बड़ी कृपा की है। आपकी कृपा से ही मैं अपने पति का आधा ऋण चुका सकी थी। यदि उस समय आप न होते तो निस्सन्देह ही मेरे पति सत्य से भ्रष्ट हो गये होते। आपकी वह कृपा कभी भूलने जैसी नहीं है।

यद्यपि ब्राह्मण ने तारा के साथ बहुत ही दुर्व्यवहार किया था, लेकिन उन्होंने उसका जिक्र तक नहीं किया और प्रशंसा ही करती रहीं। सज्जनों में यह स्वाभाविक गुण होता है कि दुर्व्यवहार पर नहीं, बल्कि सद्व्यवहार पर ही ध्यान देते हैं। लेकिन दुर्जन मनुष्यों की दृष्टि सदैव दुर्व्यवहार पर ही रहती है।

रानी द्वारा प्रगट किये गये कृतज्ञता पूर्ण भावों को सुनकर देवों ने ब्राह्मण की प्रशंसा करते हुए उसका भी आदर-सत्कार किया।

वे सेठ साहूकार भी अपने पूर्व-कृत व्यवहार का स्मरण कर बहुत ही लज्जित हुये और पश्चात्ताप करते हुये महाराज हरिश्चन्द्र से क्षमा मांगने लगे। महाराज हरिश्चन्द्र ने उन्हें सांत्वना देते हुए कहा कि—आप लोगों का कोई अपराध नहीं है। आप लोग साधारण बुद्धि से पहचानने वाले हैं और वैसी स्थिति में बिना परिचय प्राप्त किए मुझे कैसे पहचान सकते थे? यदि इस पर भी आप अपने को अपराधी समझते हैं तो इसका प्रायश्चित्त यही है कि भविष्य में अपने यहाँ आये हुए किसी भी दीन-दुःखी का अपमान न करके उसका दुःख दूर करने की चेष्टा कीजिए।

काशी नरेश भी महाराज हरिश्चन्द्र के निकट पहुंच कर कहने लगे कि—मैं ऐसा हतभाग्य नरेश हूँ कि आपने इतने दिनों नगर में रहकर कष्ट उठाए लेकिन मुझे इसकी खबर तक नहीं हुई। आप मेरे अपराध को क्षमा कीजिए और कृपा कर बताइए कि इसका क्या प्रायश्चित्त करूं।

हरिश्चन्द्र ने काशी नरेश का सत्कार करते हुए कहा—आप अकारण ही पश्चात्ताप करते हैं। यदि मेरे आने की सूचना आपको मिली होती तो आप अवश्य ही मुझसे मिलते। लेकिन जब मैंने किसी को अपना परिचय ही नहीं। तो वैसी स्थिति में आपका क्या अपराध है? परिचय

देने से तो आप मेरा ऋण चुकाकर मुझे अपना अतिथि बनाते और तब आज आप जो कुछ देख रहे हैं, वह रचना कैसे होती ? इसलिए आप किसी प्रकार का खेद न कीजिये। यदि खेद की कोई बात हो तो यह हो सकती है कि जिस काशी की पवित्र भूमि मानी जाती है, जिस काशी में आकर मैंने लाभ उठाया, जहाँ मैं अपने सत्यपालन में समर्थ हो सका हूँ, यदि वहीं के आप लोग निवासी होकर सत्य का पालन न करें। काशी की भूमि तभी लाभदायक मानी जा सकती है जब यहाँ सत्य का पालन हो। यदि केवल यहाँ रहने का ही महत्व होता तो फिर मुझे बिकने की क्या आवश्यकता थी ? वास्तव में किसी क्षेत्र-विशेष का महत्व नहीं है, अपितु चारित्र का महत्व है। अन्य क्षेत्र में रहकर भी जो चारित्रवान हैं, उनके लिए वह भूमि भी काशी की भूमि से विशेष लाभप्रद है। लेकिन यहाँ रहकर भी जो चारित्र का पालन नहीं करता उसके लिए सभी भूमि समान है। अतः सत्य-पालन द्वारा इस भूमि से लाभ उठाइए और राज्य के धन को प्रजा की धरोहर समझकर उसे प्रजाहित में लगाइए तथा ऐसा करते हुए अपनी आत्मा का कल्याण-चिन्तन कीजिए। इस प्रायश्चित्त से आपका खेद भी मिट जाएगा और आपको एवं दूसरों को भी लाभ होगा।

इसी प्रकार महाराज हरिश्चन्द्र ने सभी काशी निवासियों को समझाया और कहा कि—जब मैंने अपना परिचय ही न दिया तो आप लोग अकारण ही क्यों पश्चात्ताप करते

हैं ? इस प्रकार राजा ने सबके हृदय को शांत किया।

उसी समय अयोध्या से चले हुए विश्वामित्र भी काशी आ पहुंचे और श्मशान में अद्भुत प्रकाश को देख तथा हरिश्चन्द्र-तारा के जयघोष का कोलाहल सुनकर वे भी वहीं आए। दूर से राजा-रानी को सिंहासन पर बैठे देखकर विश्वामित्र भी उनका जयघोष करने लगे। हरिश्चन्द्र ने जैसे ही विश्वामित्र को देखा तो वे तारा सहित सिंहासन से उतर पड़े और उन्हें प्रणाम किया। उपस्थिति उन दोनों के इस व्यवहार को देखकर आश्चर्य-चकित हो गई और विचारने लगे कि ये ही वे विश्वामित्र हैं जिन्होंने हरिश्चन्द्र को इतने कष्टों में डाला था। परन्तु आज स्वयं ही उनके जयघोष कर रहे हैं।

विश्वामित्र ने राजा और रानी से कहा कि आप सिंहासन पर ही बैठिए। अब तक मैं समझता था कि मेरा क्रोध ही अपार है परन्तु इतने अनुभव के पश्चात् अब मैं यह बात स्वीकार करता हूँ कि आप लोगों का सत्य मेरे क्रोध से भी अपार है। जो बात अब तक मैंने हठवश स्वीकार नहीं की थी वही बात आज आप लोगों के सत्य से पराजित होकर स्वीकार करता हूँ। आपने अपने सत्य और सहनशीलता द्वारा मेरे तप को पराजित कर दिया तथा साथ ही मेरे अभिमान को भी नष्ट कर दिया है। इस दुष्ट क्रोध से मेरा पीछा आप जैसे सज्जनों ने ही छुड़ाया है। अब तक मुझे जितने भी मनुष्यों से काम पड़ा, उन्होंने उसको उत्तेजना

ी दी थी, लेकिन आपको मैं अनेकानेक धन्यवाद देता हूँ जो
रे क्रोध नष्ट कराने में समर्थ हो सके और अपने अपराधों
े लिए क्षमा-प्रार्थना करता हूँ ।

विश्वामित्र की बात सुनकर सारी सभा दंग रह गई
कि जो विश्वामित्र अपने क्रोध के लिए प्रसिद्ध थे, आज
उनमें इतनी नम्रता कहाँ से आ गई ?

विश्वामित्र की बात सुनकर हरिश्चन्द्र बोले—महा-
राज ! आप जैसे ऋषि के लिए मुझ तुच्छ की इतनी
प्रशंसा करना उचित नहीं है । जो कुछ भी हुआ और हो
रहा है वह सब आपकी कृपा का फल है । यदि आप राज्य
लेकर मुझ पर दक्षिणा का भार न डालते, यदि आप अपनी
दक्षिणा की वसूली में ढील करते तो आज जो आनन्द प्राप्त
हो रहा है, वह कदापि प्राप्त नहीं होता । आपने तो यह सब
करके मेरा उपकार ही किया है । आपके द्वारा की गई
परीक्षा से ही मैं समझ सका हूँ कि मैं सत्य का कहाँ तक
पालन कर सकता हूँ । आपने मेरा उपकार करने में जो
कष्ट सहे हैं, उनसे कदापि उऋण नहीं हो सकता हूँ ।

राजा की यह उदारतापूर्ण बात सुनकर सब लोग
महाराज हरिश्चन्द्र की और अधिक प्रशंसा करने लगे ।

विश्वामित्र बोले—बस राजन् ! क्षमा करो । अब इस
प्रशंसा द्वारा मुझे और अधिक लज्जित न करो ।

हरिश्चन्द्र—महाराज, मैंने जो कुछ भी प्रार्थना की है,
यह सत्य ही की है ।

विश्वामित्र—अब मेरी प्रार्थना है कि आप अयोध्या चलिए और राज्य को संभालकर अवध की दुःखी प्रजा को प्रसन्न कीजिये।

हरिश्चन्द्र—महाराज! मैंने तो वह राज्य आपको दान में दे दिया है और दान में दी हुई वस्तु वापस नहीं ली जाती है। इसके सिवाय अब मेरी राज्य करने की इच्छा भी नहीं है।

विश्वामित्र—राजन्, उस समय मैंने जो कुछ भी किया था वह सब क्रोधवश किया था। इसी से मैंने तुमसे राज्य मांग लिया था। अब तुम्हीं विचारो कि यदि ऐसा न होता तो मैं स्वयं जो अपने राज्य को त्याग चुका था, फिर तुमसे राज्य क्यों मांगता? उस समय मेरी बुद्धि अस्थिर थी, अतः बुद्धि की अस्थिरता में किये गये कार्य प्रामाणिक नहीं माने जाते हैं। इसलिए राज्य वापस लेने में आपको किञ्चित् भी संकोच नहीं करना चाहिए।

हरिश्चन्द्र—महाराज, थोड़ी देर के लिए यदि आपकी युक्ति को मान भी लूं तो भी जिस राज्य को दान में दे चुका हूँ, उसे फिर नहीं ले सकता। क्रोध का आवेश रहा तो आपको रहा होगा और बुद्धि अस्थिर रही होगी तो आपकी रही होगी, लेकिन उस समय न तो मुझे क्रोध का आवेश था और न मेरी बुद्धि ही अस्थिर थी। अतः राज्य दान का मेरा कार्य तो प्रामाणिक ही माना जाएगा।

विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र की उपर्युक्त बातें सुनकर

वह परीक्षा लेने वाला देव कहने लगा कि—विश्वामित्र का राज्य मांगने में किंचित् भी अपराध नहीं है। उस सयय उनकी बुद्धि पर मेरी माया का अधिकार था। अतः उन्होंने मेरी प्रेरणा से यह सत्र किया था।

हरिश्चन्द्र—आपकी बात मानता हूँ, परन्तु मेरी बुद्धि पर तो किसी का अधिकार नहीं था। मैंने तो जो कुछ किया वह स्व-बुद्धि से ही किया है। ऐसी अवस्था में मैं दिये दान को कैसे वापिस ले सकता हूँ ?

जब हरिश्चन्द्र ने विश्वामित्र और उस देव को निरुत्तर कर दिया तो इन्द्रादि प्रमुख देव हरिश्चन्द्र से बोले—राजन् ! यद्यपि आपको राज्य करने की आकांक्षा नहीं है, जिस कार्य से जनता का हित हो, उस कार्य को करना तो स्वीकार करोगे न ?

हरिश्चन्द्र—हाँ, यदि मेरे कार्य से दूसरों का हित होता हो तो मैं उसे प्राणपण से करने को तैयार हूं।

इन्द्र तो ठीक है। आप विश्वामित्र की प्रार्थना स्वीकार कर अयोध्या तो चलिए और वहाँ की प्रजा विश्वामित्र के शासन से सुखी हो तो कोई बात नहीं और यदि दुःखी हो तो आपको शासन करना ही पड़ेगा। दूसरे, आपने अभी स्वीकार किया है कि यदि मेरे किसी कार्य से दूसरों का हित होता हो तो मैं प्राणपण से करने को तैयार हूँ। अतः राज्य करते हुए राज्य-सुख भोगना एक बात है और प्रजा के हित को दृष्टि में रखकर शासन व रक्षा करना दूसरी

वात है। इसलिये आपको प्रजा की इच्छा होने पर उसकी रक्षा का भार तो ग्रहण करना ही पड़ेगा।

इन्द्र की बात के उत्तर में हरिश्चन्द्र ने कहा कि—मुझसे यह नहीं हो सकेगा। एक तो जिस राज्य को मैं दान कर चुका हूँ, उस राज्य में जाने या रहने का मुझे अधिकार ही नहीं है। दूसरे, मुझे महाराज विश्वामित्र ने अयोध्या में न ठहरने की आज्ञा दी है। इन कारणों से मैं आपकी इस आज्ञा का पालन करने में अपने आपको असमर्थ पाता हूँ।

इन्द्र—राजन्! यह तो ठीक है कि आप केवल अवध के अधिपति थे, इसलिए दान दिये हुए राज्य में नहीं जाना चाहते। लेकिन यदि समस्त भूमंडल के अधिपति होते और उस समय अपना राज्य दान कर देते तो इस प्रण का पालन कैसे करते? दूसरे, राज्य में न रहने देने की आज्ञा देने का अधिकार जिन विश्वामित्र को है, तो क्या उन्हें अपनी आज्ञा वापस लेने का अधिकार नहीं है? फिर क्या कारण है कि उनकी एक आज्ञा तो मानी जाये और दूसरी नहीं? इन बातों से आप अयोध्या चलने से नहीं छूट सकते। आपको अयोध्या चलना ही पड़ेगा।

इन्द्र के इस कथन का समर्थन समस्त उपस्थिति ने किया। सब लोग हरिश्चन्द्र से अयोध्या जाने के लिए आग्रह करने लगे। जिसे सुनकर हरिश्चन्द्र विचार में पड़ गए कि अब मुझे क्या करना चाहिये? इतने लोगों का आग्रह न मानना मेरा हठ कहलायेगा। अंत में विवश होकर कहा

कि–रानी और मैं बिका हुआ हूँ । जब तक हम अपने मालिकों को पांच-पांच सौ स्वर्ण-मुद्राएँ नहीं चुका देते तब तक हमें चलने की बात करने का अधिकार नहीं है, अयोध्या चलना तो दूर रहा ।

इस पर ब्राह्मण और भंगी कहने लगे कि हम आपका मूल्य तो वैसे ही पा चुके हैं । अब आप हमारे दास नही है ।

भंगी और ब्राह्मण के मना करते रहने पर भी देवों ने उन्हें खर्च किये गए धन से कई गुना अधिक धन दिया ।

इसके बाद इन्द्र की आज्ञा से तत्क्षण एक सुन्दर विमान तैयार किया गया । इन्द्र, विश्वामित्र आदि के बार-बार प्रार्थना करने पर महाराज हरिश्चन्द्र महारानी तारा और कुमार रोहित सहित ब्राह्मण और भंगी के प्रति कृतज्ञता प्रगट करके और उनकी स्वीकृतिपूर्वक सभी उपस्थितजनों से विदा मांगकर विमान में बैठे तथा विश्वामित्र व इन्द्रादि के साथ अयोध्या की ओर चल दिए ।

२९ . पुनरागमन और राज्य-शासन

अयोध्या के राज्यासन पर पुनः हरिश्चन्द्र को आसीन करने के विश्वामित्र के विचारों की खबर विजली की नाईं सारे नगर में फैल गई । समस्त प्रजा प्रसन्न हो उठी और विश्वामित्र को उनकी सुबुद्धि के लिए धन्यवाद देने लगी । सारे नगर में यही एक चर्चा थी । हरिश्चन्द्र का वापस लौटना सुनकर लोग प्रसन्नता से फूले नहीं समाते थे । सारा नगर सजाया गया था । कहीं पर तो महिलायें हरिश्चन्द्र और तारा का नाम ले-लेकर मंगलगीत गा रही थीं तो कहीं पर पुरुषवर्ग हरिश्चन्द्र और तारा का जयघोष करने के साथ-साथ उनके सत्य का गुणगान कर रहे थे तथा उनके सत्य-पालन में विजयी होने के कारण हर्षविभोर हो रहे थे । बालकगण रंग-बिरंगे कपड़े पहने उछल-कूद मचा रहे थे । वृद्धजन अपने राजा के स्वागत की तैयारी में जुटे हुए थे । बहुत से लोग तो ऊँचे-ऊँचे मकानों पर चढ़कर काशी के मार्ग की ओर टकटकी लगाए हुए देख रहे थे । सहसा, काशी की ओर से आता हुआ एक विमान उनको दिखलाई पड़ा ।

शायद इसी विमान में महाराज हरिश्चन्द्र सपरिवार हों ! इस उत्सुकता से सारे नगर-निवासी काशी के मार्ग की

ओर दौड़ चले। महिलाएँ बेशकीमती कपड़ों और आभूषणों से सजी हुई सोने के थालों में मंगलद्रव्य सजाकर हरिश्चन्द्र और तारा के मंगलगीत गाती जा रही थीं और पुरुष उच्च स्वर से जयघोष करते जा रहे थे।

उधर विमान में बैठे हुए महाराज हरिश्चन्द्र इन्द्रादि सभी को अयोध्यापुरी की ओर संकेत करते हुए कह रहे थे कि यही वह अयोध्या है जिसमें जन्म लेने के लिए देवगण भी लालायित रहते हैं। मेरी दृष्टि में अयोध्या के सन्मुख स्वर्ग भी तुच्छ है। यहाँ के निवासी मुझे बहुत ही प्रिय हैं। एक तो वैसे ही अयोध्या प्राकृतिक कारणों से रम्य है, दूसरे इसी नगरी में भगवान ऋषभदेव आदि तीर्थंकरों ने जन्म धारण किया था, तीसरे यह पुरी उस लोक में है, जहाँ पुण्योपार्जन के कार्य किए जा सकते हैं। इन सब कारणों से अयोध्या बहुत ही प्रशंसनीय स्थल है।

महाराज हरिश्चन्द्र की बात के उत्तर में इन्द्र कहने लगे कि—वास्तव में अयोध्या ऐसी ही है। उसकी जितनी भी प्रशंसा की जाए, उतनी ही कम है। मैं इन्द्र होकर भी इस अयोध्या का ऋणी हूँ।

इस पर बातचीत करते हुए विमान में बैठे-बैठे सब लोग अयोध्या के निकट आए। नगर के बाहर प्रजा को ए
त्रित और टकटकी लगाए देख हरिश्चन्द्र ने
क अब मेरा विमान में उड़ना उचित नहीं
प्रतीक्षा में भूमि पर खड़ी है और मैं

सर्वथा अनुचित है ।

इन्द्र की आज्ञा से विमान भूमि पर उतरा । विमान से महाराज हरिश्चन्द्र, महारानी तारा और कुमार रोहित के उतरते ही प्रजा ने उन पर वस्त्राभूषण न्यौछावर किए और पुष्प-वृष्टि के साथ-साथ गगनभेदी जय-जयकार किया। पुरुषों ने हरिश्चन्द्र को, महिलाओं ने तारा को और बालकों ने रोहित को चारों ओर से घेर लिया। सब तारा और हरिश्चन्द्र के चरणों में झुक-झुककर प्रणाम करने लगे और वे उन सबको उठा-उठाकर गले लगाते हुए क्षेमकुशल पूछने लगे। परन्तु स्नेहमग्न प्रजा आंखों से प्रेम के आंसू बहाने के सिवाय और कुछ उत्तर न दे सकी एवं उनके द्वारा हरिश्चन्द्र के चरणों का प्रक्षालन करने लगी।

महाराज हरिश्चन्द्र के सकुशल वापस लौटने की खुशी में प्रजा ने यथाशक्ति दान दिया। महिलाएँ भी तारा को पाकर प्रसन्न हो उठीं और उनसे कहने लगी कि आपने ऐसे आपद्काल में पति के साथ जाकर स्त्री-जाति को कलंक से बचा लिया है।

प्रजा का ऐसा प्रेम देखकर इन्द्रादि देव प्रजा और हरिश्चन्द्र की प्रशंसा करने लगे। विश्वामित्र ने महाराज हरिश्चन्द्र को राजमहल में ले चलने के लिए प्रजा को संकेत किया और प्रजा उनको लेकर राज महल की ओर चली। इन्द्रादि सब देव और विश्वामित्र भी साथ-साथ महल की ओर चले।

महाराज हरिश्चन्द्र के आने की आशा से नगरवासियों ने नगर को पहले से ही सजा रखा था। स्थान-स्थान पर सुन्दरता बढ़ाने वाले स्वागत द्वार बने हुए थे। प्रत्येक घर के द्वार पर वंदनवार बंधे थे और सामने मंगल-कलश रखे थे। सुगन्धित पदार्थों से सारा नगर महक रहा था।

इस सजे सजाए नगर के राज-मार्गों से जुलूस के रूप में घुमाते हुए और स्थान-स्थान पर स्वागत सत्कार करते हुए प्रजा ने राजा का राजमहल में प्रवेश कराया। विशेष समय से सूना दिखने वाला राजमहल भी महाराज हरिश्चन्द्र के पदार्पण से शोभित हो उठा। पहले जिस सूने राजमहल को देख-देखकर प्रजा दुःखित होती थी और अनेक स्मृतियां जाग उठती थीं, आज उसी महल में राजा, रानी और युव-राज रोहित के पुनः पधार जाने से प्रजा के आनन्द का पारावार न था।

✻ ✻ ✻

महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी तारा आदि के राज-महल में पहुंचने पर विश्वामित्र ने हरिश्चन्द्र से सिंहासन सुशोभित करने की प्रार्थना की और कहा कि राज्यासन पर विराजकर अपने वियोग से व्याकुल प्रजा का दुःख दूर कीजिए।

मैं इसे आपको दान में दे चुका हूँ। अतएव अब इस पर मेरा कोई अधिकार नहीं है। आप सब लोगों की बात मान कर मैं यहाँ आया हूँ और आपकी कृपा से प्रजा ने मुझे देख लिया और मैंने प्रजा के दर्शन कर लिए हैं। यदि प्रजा दुखी है तो राजा होने के कारण आप उसका दुःख दूर कीजिए।

हरिश्चन्द्र का उत्तर सुनकर प्रजा बहुत दुःखी हुई और उनसे पुनः राज्य-भार ग्रहण करने की प्रार्थना करने लगी।

इस पर हरिश्चन्द्र ने प्रजा को समझाते हुए कहा—आप लोग ही बतलाएँ कि क्या दान में दी हुई चीज वापस ली जाती है।

प्रजा—नहीं।

हरिश्चन्द्र—तो जब मैं यह राज्य दान कर चुका हूँ, तो फिर से उसे कैसे ग्रहण कर सकता हूँ।

हरिश्चन्द्र के इस कथन से निरुत्तर होकर प्रजा चुप-चाप आंसू बहाने लगी। तब इन्द्र ने प्रजा को संबोधित करते हुए कहा कि—महाराज हरिश्चन्द्र पहले मुझसे कह चुके हैं कि मैं दूसरों के हित के कार्य करने के लिए प्राण-पण से तैयार हूँ। अतः आपसे प्रश्न पूछता हूँ कि आपका हित विश्वामित्र के राजा रहने में है या महाराज हरिश्चंद्र के ?

इन्द्र के इस प्रश्न के उत्तर में प्रजा ने एक स्वर से

कहा कि हमारा हित महाराज हरिश्चन्द्र के राज्य करने से ही होगा। हमें जो सुख इनके राज्य में मिला और भविष्य में मिलेगा, वैसा सुख विश्वामित्र के राज्य में नहीं मिला और न मिलने की आशा है।

प्रजा का उत्तर सुनकर इन्द्र पुनः महाराज हरिश्चंद्र से कहने लगे—प्रजा आपसे प्रसन्न है और आपके राज्य करने से सुख की आशा करती है तो इस दशा में और वह भी ऐसे समय में जब विश्वामित्र स्वयं ही आपसे राज्य ले लेने का आग्रह कर रहे हैं, तब आपका राज्य न लेना कदापि उचित नहीं है। अतः आपको यही उचित है कि आप उनकी इच्छानुसार कार्य करें।

हरिश्चन्द्र - परन्तु आप ही कहिए कि जो वस्तु दान में दी जा चुकी है, क्या उसे फिर लौटा लेना उचित होगा।

इन्द्र—आपका कहना यथार्थ है, परन्तु मैं पहले कह चुका हूँ कि राज्य करके सुख भोगना एक बात है और प्रजा पर शासन करके उसकी रक्षा करना तथा सुख-समृद्धि-संपन्न बनाना दूसरी बात है। आपको तो यही दूसरी बात करने के लिए कहा जा रहा है। इसके सिवाय आपने राज्य को दान में दिया है, कुमार रोहित ने तो नहीं। विश्वामित्र राज्य कुमार रोहित को देते हैं और रोहित को दिया जा रहा राज्य लेने में कोई हर्ज नहीं है। जब तक रोहित राज्यभार वहन करने के योग्य नहीं हो जाता तब तक उसकी ओर से आप राज्य कीजिए और बाद में उसके योग्य होने पर आप

उसे सौंप दीजिए। यदि आप कहें कि दान में दी हुई वस्तु में से कैसे खाएं-पीएं तो इसका उत्तर यह है कि संसार में कोई भी मनुष्य बिना खाए-पीए काम कर नहीं सकता है। जब आप बिके हुए थे तब भी आप अपने खरीददार के यहाँ खाते-पीते ही थे। इसी प्रकार यहाँ भी कीजिए। अब प्रजा को इस प्रकार दुःख-मग्न रहने देना आप जैसे सत्यवादी के लिए उचित नहीं है।

इन्द्र, विश्वामित्र, प्रजा और अपने कष्टदाता देव आदि के अनुनय-विनय करने और समझाए-बुझाए जाने पर विवश होकर हरिश्चन्द्र ने रोहित के वयस्क होने तक राज्य संभालना स्वीकार किया।

महाराज हरिश्चन्द्र की पुनः शासन करने की स्वीकृति प्राप्त होते ही समस्त प्रजा आनन्द-मग्न हो गई और हरिश्चन्द्र-तारा के जयघोषों से संपूर्ण राजमहल गूंज उठा।

काशी को प्रस्थान करने के पूर्व ही विश्वामित्र मंत्रियों को राज्याभिषेक की सामग्री तैयार रखने की आज्ञा दे गए थे। तदनुसार विधि सहित हरिश्चन्द्र, तारा और कुमार रोहित को राजसी वस्त्रालंकारों से अलंकृत किया गया तथा अवध का राजमुकुट पुनः हरिश्चन्द्र के मस्तक पर शोभि होने लगा। यह सब हो जाने के बाद रानी और कुम सहित महाराज हरिश्चन्द्र [illegible] बैठाये गए अ विश्वामित्र ने राजा के हाथ [illegible] दिया। प्र उनकी जय-जय बोलने लगी [illegible] यशोगान

लगे। विविध प्रकार के वाद्यों से सारा आकाश गूंज उठा। सब लोगों ने यथाविधि, यथाशक्ति भेंटें प्रस्तुत कीं और महाराज हरिश्चंद्र ने उन सबका यथोचित आदर-सत्कार किया।

राज्याभिषेक का कार्य सम्पन्न हो जाने के पश्चात सभा-मंच पर खड़े होकर इन्द्र कहने लगे—एक दिन वह था जब मैंने अपनी सभा में महाराज हरिश्चंद्र के सत्य की प्रशंसा की थी और एक दिन आज का है जबकि मैं उनके सन्मुख ही उनकी प्रशंसा करने के लिए खड़ा हूँ। पूर्व में मेरे द्वारा की गई प्रशंसा वैसे ही थी जैसे सोने के केवल रंग-रूप को देखकर सोना कहना और आज जो प्रशंसा कर रहा हूँ वह सोने को तपाकर, कूटकर और काटकर परीक्षा करने के बाद सोना कहना जैसी है। यद्यपि मैं यह जानता हूँ कि महाराज हरिश्चन्द्र अपने कर्तव्य-मार्ग पर महारानी तारा की सहायता से ही स्थिर हो सके हैं और उन्हीं की सहायता से वे सत्य-पालन में समर्थ हुए हैं। लेकिन इसके साथ ही मुझे यह भी मालूम है कि भारत की ललनायें अपने पति के होते हुए अपनी प्रशंसा की इच्छुक नहीं रहतीं। वे जो कुछ भी सत्कार्य करती हैं तथा पति के गौरव को ही देती हैं और पति की प्रशंसा में प्रसन्न होती हैं तथा पति के गौरव को ही अपना गौरव समझती हैं। इसलिए मैं महारानी तारा की पृथक से प्रशंसा न करके केवल महाराज हरिश्चन्द्र की ही प्रशंसा करता हूँ, जिनकी वे अर्धांगिनी हैं।

महाराज हरिश्चन्द्र के विषय में कुछ भी कहने से पहले

मैं इस भारत और अयोध्या की जितनी भी प्रशंसा करूँ वह कम है। जिसमें महाराज हरिश्चन्द्र जैसे सत्यधारी राजा विराजते हैं और जिनकी प्रजा भी सत्य-पालन में उनका अनुकरण करती है।

यद्यपि महाराज हरिश्चन्द्र के सत्य-पालन की महिमा का पूर्णरूप से वर्णन करने में तो मैं समर्थ नहीं हूँ, तथापि इतना अवश्य कहूँगा कि महाराज हरिश्चन्द्र ने धर्म के मर्म को समझकर ही इतनी कष्ट-सहन की तपस्या की है। साधारण मनुष्य तो इन पर पड़े संकटों को सुनकर ही घबरा जाएगा। परन्तु उनको भी ये धैर्यपूर्वक सहते रहे और अपने सत्य से विचलित नहीं हुए। यही कारण है कि आज मनुष्य लोक में ही नहीं, किन्तु देवलोक में भी इनके सत्य की और साथ-साथ इनकी प्रशंसा हो रही है। यदि महाराज हरिश्चन्द्र के समान सत्यधारी राजा न होते तो मैं नहीं कह सकता कि देवलोक में देवगण सत्य के लिये किसका आदर्श सामने रखकर सत्य के गीत गाते। महाराज हरिश्चन्द्र के सत्य पर मुग्ध होकर मेरा हृदय यही कहता है कि सत्य-रहित राजत्व की अपेक्षा ऐसे सत्यधारी का दासत्व भी कई गुना श्रेष्ठ है। सत्य-रहित राज्य नरक की ही प्राप्ति कराएगा, लेकिन सत्य-सहित दासत्व आत्मा को उच्चतम अवस्था में पहुंचाएगा।

अन्त में मैं आशीर्वाद देता हूँ कि महाराज हरिश्चन्द्र और उनके सत्य की कीर्ति आकाश की तरह अनंत और

अटल बनी रहे। जिस सत्य पर विश्वास करके महाराज हरिश्चन्द्र ने इतने कष्ट सहे हैं और जिनके प्रताप से आज इनकी कीर्ति दिग्-दिगंत में व्याप्त हो रही है, उस सत्य पर विश्वास करने वाले और पालन में कष्ट से भयभीत न होने वाले लोग निश्चय ही शुभगति को प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार सत्य और महाराज हरिश्चंद्र की प्रशंसा करके इन्द्रादि सब देव हरिश्चंद्र से आज्ञा मांगकर देवलोक को गए और विश्वामित्र वन को चले गए।

३० : आत्मकल्याण के मार्ग पर

आज महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी तारा के प्राप्त होने से प्रजा में अपूर्व आनंदन था। सारा नगर प्रफुल्लित हो उठा और उसके निवासी कई दिन तक उत्सव मनाते रहे। संसार के नियमानुसार यह सच है कि इच्छित वस्तु के प्राप्त होने पर हृदय को अपार आनन्द होता है।

सब लोगों को विदा करके महाराज हरिश्चन्द्र राज-काज में संलग्न हुए। राज्य में महाराज के नाम ढ़िंढ़ोरा पिट जाने तथा गगनस्पर्शी ध्वजा फहराने से राज्य में चोर-लंपटादि सूर्योदय में तारों के समान छिप गए। सब लोग अपने-अपने कर्तव्यों का पूर्ववत् पालन करने लगे और अपने राजा को आदर्श मानकर सत्य पर दृढ़ रहने लगे। थोड़े ही दिनों में सारी प्रजा पुनः सुख-समृद्धि-सम्पन्न हो गई।

पूर्ववत् राजा होने पर भी महाराज हरिश्चन्द्र ने राज्य की आय से स्वयं किंचित् भी लाभ नहीं उठाया। वे अपने तथा रानी के भरण-पोषण के लिए पृथक्-से निजी उद्योग करते और उसी से अपना जीवन-निर्वाह करते थे।

महाराज हरिश्चन्द्र ने अत्यन्त न्यायपूर्वक राज्य किया। उनके राज्य में अन्याय का तो नाम भी कोई नहीं जानता

था और प्रजा सुखी थी। कहीं भी दुर्भिक्ष या महामारी का नाम तक सुनाई नहीं देता था। प्रजा यह नहीं समझती थी कि दरिद्रता का दुःख कैसा होता है। जनता की आर्थिक स्थिति अच्छी ही थी। परस्पर में अच्छा स्नेह था और कोई किसी को नहीं सताता था।

राज्य में अतिवृष्टि नहीं होती थी। शीतल मंद पवन मंथर गति से बहा करता था और षड्ऋतुओं का कालक्रम यथासमय चलता रहता था। भूमि सदा हरी-भरी रहती थी और उत्तमोत्तम धान्य उत्पन्न हुआ करते थे। वन के वृक्ष फल-फूलों से लदे रहते थे और घी-दूध की नदियां बहती रहती थीं। इस प्रकार महाराज हरिश्चंद्र का राज्य बड़ा ही सुखदायक था। दशों दिशाओं में सर्वत्र आनंद व्याप्त रहता था, मानो वह उनके व उनकी प्रजा के आधीन ही हो।

पहले के लोग अपनी समस्त आयु को संसार के भ्रम-जाल में ही नहीं बिताते थे, अपितु आयु का अंतिम एक भाग आत्म-कल्याण में लगाते थे। वैसे तो गृहस्थी में रहते हुए भी वे आत्म-कल्याण की ओर ले जाने वाले कार्य किया करते थे परन्तु आयु का अंतिम भाग तो निश्चित रूप से इसी में लगा दिया करते थे और इसीलिए उन्होंने आयु को चार भागों में विभक्त कर रखा था। जिसके प्रथम भाग में वे ब्रह्मचर्य पालन करने के साथ-साथ विद्योपार्जन किया करते थे। दूसरे भाग में गृहस्थाश्रम का संचालन करते थे। तीसरे भाग में संसार-त्याग का अभ्यास करते थे और चौथे भाग

में संसार से विरक्त होकर आत्मचिन्तन में तल्लीन हो जाते थे। इन नियमों का पालन न करने वाला घृणा की दृष्टि से देखा जाता था और सांसारिक कार्यों से उलझे हुए ही मरना एक लज्जा व कायरोचित बात मानी जाती थी। उनका सिद्धांत था कि—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया ।
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून् ॥
त्यजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः ।
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥

विषयों को हम चाहे जितना भोगें, चाहे जितना प्यार करें, किन्तु एक दिन वे निश्चय ही हमसे अलग हो जाएँगे, तब हम स्वयं अपनी इच्छा से ही उन्हें क्यों न छोड़ दें? क्योंकि जब वे विषय हमको छोड़ेंगे तब हमें बड़ा दुःख और मन को क्लेश होगा और यदि हम उनको छोड़ देंगे तो हमें अनन्त सुख व शांति प्राप्त होगी।

यद्यपि महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी तारा की युवावस्था व्यतीत हो चुकी थी परन्तु तेजस्वी होने के कारण युवावस्था के अवसान होने के कोई चिह्न उनके शरीर पर दिखलाई नहीं देते थे। लेकिन वे आज के मनुष्यों की तरह न थे जो बुढ़ापे को भी जवानी मानकर गृहस्थी में ही फंसे रहते। आज के मनुष्य तो शिथिल इन्द्रियों को पुनः जागृत करने तथा श्वेत केशों को पुनः श्याम बनाने के लिये औष-धियों का प्रयोग करते हैं, परंतु उस समय के मनुष्य गृहस्थी

छोड़कर तपस्या में तल्लीन हो जाते थे। इसी के अनुसार महाराज हरिश्चंद्र और महारानी तारा ने भी गृह-त्याग का विचार किया। इधर रोहित भी समझदार हो चुके थे और राज्य-कार्य सभालने की योग्यता भी उनमें आ चुकी थी। अतः उन्होंने राज्य त्याग करना उचित समझा।

राज्य-त्याग का विचार करके महाराज हरिश्चन्द्र ने रोहित के राज्याभिषेक की तैयारी करवाई। प्रजा भी अपने प्रिय राजा-रानी के विचारों से सहमत हुई और उसमें से बहुतेरे राजा-रानी के संसार-त्याग के कार्य का अनुकरण करने को तैयार हुए।

"यथा राजा तथा प्रजा" इस कहावत के अनुसार प्रजा उन कार्यों को विशेष रूप से अपनाती है जिन्हें राजा करता है। राजा के प्रत्येक कार्य का प्रजा अनुकरण करने लगती है, फिर चाहे वे कार्य अच्छे हों या बुरे। अच्छे या बुरे कार्य का भार राजा के ऊपर समझकर जिन कार्यों को राजा करता है, उन्हें करने में प्रजा किंचित् भी नहीं हिचकिचाती। इसलिए पहले के राजा प्रत्येक कार्य ऐसे रूप में करते थे, जिसका अनुसरण करने से प्रजा को लाभ अवश्य हो। झूठ, व्यभिचार आदि बुरे कार्यों को वे अपने पास भी नहीं फटकने देते थे। यही कारण था कि राजा के कार्यों का अनुसरण करने पर प्रजा इहलौकिक आनन्द प्राप्त करने के साथ-साथ पारलौकिक आनंद भी प्राप्त करती थी।

निश्चित समय पर महाराज हरिश्चन्द्र ने कुमार रोहित

का राज्याभिषेक किया। कुमार रोहित के राजा होने पर सम्पूर्ण प्रजा प्रसन्न हो उठी और महाराज हरिश्चन्द्र की प्रशंसा करने लगी। राज्याभिषेक की समस्त विधियों के सपन्न हो जाने पर रोहित को राजदंड सौंपते हुए महाराज हरिश्चन्द्र ने कहा—आज यह बड़े हर्ष की बात है कि मैं राज्य और गृहस्थी का भार कुमार रोहित को सौंपकर महारानी तारा सहित शेष जीवन आत्मचिन्तन में व्यतीत करने के लिए वन में जा रहा हूँ। यद्यपि रोहित स्वयं एक चतुर और प्रजा प्रिय शासक सिद्ध होंगे, तथापि पिता होने के कारण मेरा कर्तव्य है कि इन्हें शिक्षा के दो शब्द कहूँ। इसलिए मैं रोहित को यह शिक्षा देता हूँ कि राजा के लिए प्रजा पुत्रवत् है। जिस प्रकार पुत्र के सुख-दुःख आदि का ध्यान रखना पिता का कर्तव्य है, उसी प्रकार राजा का भी कर्तव्य है कि वह प्रजा के सुख-दुःख की चिन्ता रखकर उसका दुःख दूर करे। जो राजा अपनी प्रजा का दुःख दूर करने में असमर्थ होता है या इस ओर उपेक्षा-भाव रखता है, वह अयोग्य समझा जाता है। इसलिए राजा को प्रजा के सुखी रहने पर ही राजा सुखी रह सकता है। इसके सिवाय प्रत्येक व्यक्ति का दान-मान से संमान करना भी राजा का कर्तव्य है। जो राजा दान करना और आने-जाने वालों का संमान करना नहीं जानता, वह भी अयोग्य माना जाता है।

अंत में सबसे महत्वपूर्ण बात यही कहता हूँ कि राज्य चाहे चला जाए परन्तु सत्य और धर्म को कदापि हाथ से

न जाने देना । सत्य और धर्म के रहने पर अन्य सब वस्तुएं पुनः प्राप्त हो सकती हैं परन्तु इनके न रहने पर संसार की सब जड़ वस्तुएं किसी काम की नहीं हैं और वे सब इस लोक में तो दुखदाता होंगी ही और साथ-साथ परलोक में भी दुखदाता होंगी ।

मैं प्रजा को रोहित के और रोहित को प्रजा के हाथों सौंप रहा हूँ । आशा है कि दोनों एक-दूसरे से सहयोग रख कर सत्य, धर्म, न्याय-नीतिपूर्वक राज्य की व्यवस्था करेंगे । इसके सिवाय और विशेष क्या कहूँ ।

राजा का कथन समाप्त होते ही प्रजा ने हर्षपूर्वक महाराज हरिश्चन्द्र, महारानी तारा और नवाभिषिक्त महाराज रोहित की जय जय ध्वनि की ।

अनन्तर रोहित ने सिंहासन पर से खड़े होकर कहा कि मेरे पूज्य पिता महाराज हरिश्चन्द्र ने मुझे जो कुछ भी शिक्षा दी है, उसका मैं जीवन-पर्यन्त पालन करूंगा और अपने गुरुजनों से आशीर्वाद मांगते हुए प्रजाजनों से आशा करता हूँ कि वे मेरे राज्य-कार्यों में पहले की तरह सहयोग देकर राज्य को सुख-संपन्न बनाने में सहभागी बनें । जिससे हम सबका कल्याण होवे ।

एक बार पुनः प्रजा ने महाराज हरिश्चन्द्र, महारानी तारा और रोहित की जय-जयध्वनि की ।

इसके बाद वन जाने के लिए महाराज हरिश्चन्द्र

तारा और नव-अभिषिक्त महाराज रोहित के साथ

वन जाने के लिए महल से निकलकर बाहर आए, जहाँ उनका अनुसरण करने के लिये अनेक स्त्री-पुरुष प्रतीक्षा में खड़े थे। वन जाने के लिये वे उनके साथ नगर के बाह्य भाग की ओर चल दिये।

नगर के बाहर आकर उन सभी आगत स्त्री-पुरुषों के साथ हरिश्चन्द्र और तारा ने भागवती दीक्षा धारण की। महाराज रोहित तथा प्रजा उनको राजसी वेश का परित्याग कर साधुओं के वेश में परिणत देखकर उनकी जय-जयकार करने लगी और अपने सहयोगी स्त्री-पुरुषों सहित हरिश्चन्द्र तारा दो भागों में विभक्त होकर आत्म-चिन्तन में लीन होने के लिए वन की ओर चल दिए। उन्होंने वन में पहुंचकर बारह भावनाओं का चिन्तवन कर खूब तपस्या की और शुक्ल-ध्यान का ध्यान कर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। चार घाती कर्म का उच्छेद कर अरिहंत दशा को प्राप्त हुए तथा शेष चार अघाती कर्मों का समूलो च्छेद कर आयु के अन्त में शाश्वत सुख के धाम अजर, अमर सिद्ध पद को प्राप्त हुए।

माता-पिता आदि को वन की ओर विदा करके प्रजा सहित महाराज रोहित वापस नगर में लौट आए। प्रजा महाराज रोहित के राज्याभिषेक और महाराज हरिश्चन्द्र आदि के दीक्षा धारण करने के उपलक्ष्य में कई दिन तक आनंदोत्सव मनाती रही।

महाराज रोहित अपने पिता की ही तरह सत्य और

धर्म की रक्षा करते हुए न्यायपूर्वक राज्य करने लगे। जिससे प्रजा को महाराज हरिश्चन्द्र के राज्य-त्याग से किंचित् भी दुःख नहीं हुआ ।

३१ . उपसंहार

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि चरित्र कहने-सुनने का तात्पर्य यही है कि उसमें वर्णित अच्छे कार्यों का अनुसरण करें और बुरे कार्यों का त्याग किया जाए। इस कथन का तात्पर्य यह भी नहीं है कि महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारा के चरित्र का अनुकरण करने के लिए आप लोग भी अपने गृहादि का दान कर दें या दूसरों का दास होकर रहें। यदि सत्य के लिए ऐसा भी हो सके तब तो अच्छा ही है लेकिन ऐसा न हो सकने के कारण सत्य से ही वंचित रहना उचित नहीं है। जिस आकाश में गरुड़ पक्षी उड़ता है, उसी में एक पतंग को भी उड़ने का अधिकार है। यह बात दूसरी है कि वह उड़ने में गरुड़ की समानता न कर सके, लेकिन इसी कारण उड़ना बंद नहीं करता। इसी तरह जिस सत्य को महाराज हरिश्चंद्र और महारानी तारा जैसे उच्च व्यक्तियों ने पाला है, उसी सत्य को साधारण-से-साधारण मनुष्य भी पाल सकता है। यह बात दूसरी है कि आज के मनुष्य उनकी तरह त्याग न दिखा सकें, लेकिन इसी कारण सत्य का पालन नहीं करना कदापि उचित नहीं कहला सकता। उन्होंने भयंकर-से-भयंकर

कष्टों को सहते हुए भी सत्य न छोड़ा तो उनके आदर्श को सन्मुख रखकर कम-से-कम आप साधारण कष्टों से भयभीत हो सत्य को नहीं छोड़ें या जहाँ कष्ट होने का कोई भय नहीं है, वहाँ तो सत्य का त्याग कदापि न करें।

महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी तारा के सत्य-पालन मात्र से ही आपको कोई लाभ नहीं हो सकता है। उसका लाभ तो उन्हीं को मिला। किन्तु आपको तो लाभ तभी हो सकता है जब आप स्वयं सत्य का उपयोग करें। कार्यों का अच्छा या बुरा फल कर्ता को ही प्राप्त होता है, दूसरे को नहीं। कर्ता के अच्छे कार्यों को सुन लेने मात्र से सुनने वालों को लाभ नहीं होता है। लाभ तो उस अच्छाई को ग्रहण करने और तदनुसार आचरण करने से ही होता है।

इस चरित्र का वर्णन इसी आशय से किया गया है कि मनुष्य सत्य के महत्व को समझकर असत्य से दूर रहें। महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी तारा ने जिस सत्य के द्वारा अपने जीवन का कल्याण किया है, उस सत्य को अप-नाने वाले का सदा कल्याण-ही-कल्याण है।